अङ्कः (Vol.) XIII वर्षम् (Year) 2023 ISSN 2231-5799

संस्कृतवाङ्मयी

SANSKRIT-VĀṄMAYĪ

(Peer Reviewed Research Journal)

सम्पादकः
डॉ. अभिमन्यु सिंह
समन्वयकः
संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

Editor
Dr. Abhimanyu Singh
Coordinator
Deptt. of Sanskrit & Prakrit Languages
University of Lucknow, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ–226007
Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Lucknow, Lucknow-226007

अङ्क (Vol.) XIII वर्षम् (Year) 2023 ISSN 2231-5799

संस्कृतवाङ्मयी

SANSKRIT-VĀṄMAYİ

(Peer Reviewed Research Journal)

सम्पादक:
डॉ. अभिमन्यु सिंह
समन्वयक:
संस्कृतप्राकृतभाषाविभाग:
लखनऊविश्वविद्यालय:, लखनऊ

Editor
Dr. Abhimanyu Singh
Coordinator
Deptt. of Sanskrit and Prakrit Languages
University of Lucknow, Lucknow

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ–226007
Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Lucknow-226007
E-mail : lusanskrit@gmail.com, Website : www.sanskritvanmayi.in

संरक्षकः

प्रो. आलोककुमाररायः

कुलपतिः

लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

परामर्शदातृसमितिः

प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
प्रो. अभिराजराजेन्द्रमिश्रः
प्रो. ओमप्रकाशपाण्डेयः
प्रो. हरेकृष्णशतपथी
प्रो. दीप्तिशर्मात्रिपाठी
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
प्रो. गोपबन्धुमिश्रः
प्रो. जी.एस.आर.कृष्णमूर्तिः
प्रो. श्रीनिवासवरखेडी
प्रो. रामसेवकदुबे
प्रो. सोमदेवशतांशुः
प्रो. भागीरथिनन्दः

समीक्षकसमितिः

प्रो. भारतभूषणत्रिपाठी
प्रो. अरूणाशुक्ला
प्रो. रामसुमेरयादवः

प्रकाशकः

प्रो. अरविन्दअवस्थी

पदेन अध्यक्षः

संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः,
लखनऊविश्वविद्यालयः, लखनऊ

मूल्यम् : रु.151/-

वार्षिकशुल्कम् : रु.151/-

आजीवनशुल्कम् : 2500/-

मुद्रक :-

नीलांजन जनरल ऑर्डर सप्लायर्स,
जानकीपुरम्, लखनऊ

सम्पादकीय

संस्कृत भाषा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की पोषक है। अतीत काल से आज तक संस्कृत भाषा सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के संवर्धन में विशेष योगदान देती रही है। राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता को अक्षुण्ण बनाए रखने में भी संस्कृत भाषा सक्षम है और भविष्य में भी रहेगी। संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति की ही नहीं अपितु विश्व संस्कृति की आधारशिला है, सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा, यह पहली वह संस्कृति है जो सभी के द्वारा वरणीय है। जहां विश्व एक घोंसले के समान हो जाता है - यत्र विश्वम् भवत्येकनीडम् कहते हुए वेद में इस संस्कृति का पौनःपुन्येन उद्घोष हुआ है। संस्कृत में ज्ञान-विज्ञान, कला, धर्म-दर्शन, अर्थशास्त्र, व्याकरण, काव्य-शास्त्र, आयुर्वेदादि विषयों का जैसा प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होता है वैसा अन्य भाषाओं में नहीं।

संस्कृत भाषा वास्तविक संदर्भों में इस राष्ट्र के वसुओं की संगमनी (बोधदात्री अथवा प्रदात्री) है। जैसा की वाक्सूक्त में कहा गया है - अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्। (ऋ०१०/१२५/०३) भारत की राष्ट्रीयता की प्राचीन काल से ही संवाहक वस्तुतः संस्कृत भाषा ही है। भारत को भा+रत (तेज अथवा प्रकाश से युक्त) बनाने का कार्य संस्कृत ने शताब्दियों तक किया।

मानवता के लिए हितकारी उपयोगी ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस पर संस्कृत के ऋषियों और मनीषी आचार्यों ने अपनी लेखनी ना चलाई है। वास्तव में अध्यात्म-ज्ञान, नीति-तत्वबोध, आचार-शिक्षा, काव्य-तत्वावबोध, अर्थशास्त्र, गणित, ज्योतिष, सङ्गीत, नृत्य, कामशास्त्र और अभिनय आदि कलाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होता है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका के त्रयोदश अङ्क का प्रकाशन किया जा रहा है।

संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका के विधिवत् प्रकाशनार्थ लखनऊ विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो. आलोक कुमार राय महोदय ने शुभ सन्देश रूपी आशीर्वचनों से अनुगृहीत किया है। हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका के इस अंक में संस्कृत हिंदी एवं आंग्ल भाषा में लिखित, मूल्याङ्कन समिति द्वारा चयनित कुल 30 शोध पत्र प्रकाशित हैं। इनमें संस्कृत भाषा के 11, हिंदी भाषा के 16 तथा आंग्ल भाषा में लिखित 3 शोध पत्र इस अङ्क में स्थान पाए हैं। इन सभी शोध पत्रों में तत्तद्विषयों का विषय के अनुरूप विस्तृत एवं स्पष्ट उपस्थापन किया गया है। प्रस्तुत अङ्क में प्रकाशित लेखों में पाठक गण को संस्कृत की विषयगत विविधता एवं विशाल परिधि का आभास होगा।

हम समस्त सरस्वती समुपासकों विद्वानों विदुषियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं जिनकी प्रतिभा से प्रसूत शोध-पत्र रूपी पुष्पों से यह संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका पुष्पित है। आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका संस्कृत ज्ञान परंपरा की उन्नति में निश्चित रूप से सहयोग करेगी। इन्हीं उद्गारों के साथ हम अपने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग के गुरुओं की गौरवमयी परम्परा को प्रणाम करते हैं, जिनके आशीर्वाद से यह पत्रिका अभिनव प्रतिमानों को स्थापित कर रही है। अब और अधिक कुछ ना कहते हुए हम इस अङ्क को सुधीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। अलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वर्येषु।

रामनवमी
वि०सं० 2080

डॉ० अभिमन्यु सिंह

प्रो. आलोक कुमार राय
कुलपति
Prof. Alok Kumar Rai
Vice-Chancellor

लखनऊ विश्वविद्यालय
(नैक द्वारा **A++** ग्रेड प्रत्यायित)
लखनऊ–226007 (उ.प्र.) भारत
University of Lucknow
(Accredited **A++** by NAAC)
Lucknow-226007 (U.P.) India

सन्देश

शोध सत्य की जिज्ञासा का परिणाम होता है। विश्वविद्यालयों का मूलभूत कार्य कक्षा में विषय की उपस्थापना के साथ छात्रों के मन में मौलिक अनुसंधान की प्रवृति को प्रेरित करना भी है। भागवतकार महर्षि वेदव्यास ने **सत्यं परं धीमहि** अर्थात् हम उस परम सत्य को प्राप्त करें कहते हुए इसी तथ्य को उजागर किया है। सत्यान्वेषण की अनन्त ऊहा से ज्ञान की परिधि का निरन्तर विस्तार करते हुए परम सत्य को जानना मानव पुरूषार्थ का परम लक्ष्य है।

संस्कृत विज्ञान के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए कृतसंकल्प संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'संस्कृतवाङ्मयी' शोध पत्रिका संस्कृत वाङ्मय में अभिनव अनुसंधान हेतु सतत तत्पर है। संस्कृतवाङ्मयी में संस्कृत, हिंदी तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं में प्रकाशित शोधपत्र ज्ञान विज्ञान का प्रतिमान बनकर साम्प्रतिक समय में अत्यधिक उपयोगी एवं प्रासंगिक सिद्ध होंगे।

इसी आशा एवं विश्वास के साथ संस्कृतवाङ्मयी के प्रस्तुत अंक के सफल प्रकाशन हेतु हार्दिक शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

दिनांक 21-04-2023

(प्रो0 आलोक कुमार राय)

Telephone : 0522-2740467 (O) 0522-2740462 (R) Fax : 0522-2740467 (O), 9415684935 (M), Email: vc@lkouniv.ac.in

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषयः	लेखक/लेखिका	पृ.सं.
1.	श्रीजीवन्यायतीर्थकृतस्य चिपिटकचर्वणस्य नान्दीश्लोकस्य विमर्शः	डॉ. राकेशदाशः	9
2.	प्रसन्नभारते राष्ट्रिय भावनायाः चिन्तनम्	प्रो. जयप्रकाशनारायणः	19
3.	चन्द्रशेखरसिंहसामन्तस्य साहित्यं तथा तत्र भक्तितत्त्वम्	डॉ. भारतभूषणरथः	24
4.	चलदूरवाणीखण्डकाव्यसमीक्षणम्	डॉ. सी.हेच्. नागराजुः	30
5.	क्षितौ गन्धः समाश्रितः समवायसम्बन्धेन	डॉ. आशीषकुमारः	35
6.	अतिमहनीयो वेदान्तप्रस्थानमहिमा	डॉ. भुवनेश्वरीभारद्वाजः	40
7.	चरकसंहितायामध्यात्मम्	डॉ. अशोककुमार शतपथी	44
8.	वैदेशिकाटनमहाकाव्यानुसारं विदेशेष्वातिथ्यम्	डॉ. प्रतापकुमारमेहेरः	48
9.	सुपद्मव्याकरणानुसारेण णिति वृद्धिरचामादेः, इणो ण्वोरस्वागतादेरैयौवौ इति सूत्रद्वयस्य विमर्शात्मकम् अध्ययनम्	अभिजित् साहा	52
10.	तन्त्रपरम्परायां शाक्तोपासनाविमर्शः	सन्ध्या	57
11.	चार्वाकबौद्धजैनदर्शनेषु मोक्षस्तदुपायविमर्शश्च	दुर्गानाथभारद्वाजः	63
12.	लोचनोन्मीलित ध्वनिप्रस्थानोन्मेष	प्रो. प्रयाग नारायण मिश्र	67
13.	संस्कृत साहित्य में जलविचार	डॉ. मैत्रेयी कुमारी	73
14.	समासगत उदात्तादिस्वर हेतुक अर्थभेद	डॉ. करुणा आर्या	79
15.	वैदिक वाङ्मय में पर्यावरणीय वैज्ञानिक चेतना	डॉ. अभिमन्यु सिंह	85
16.	मृच्छकटिकम् में नारी पात्रों की सामाजिक स्थिति	डॉ. सन्त प्रकाश तिवारी	92
17.	वैदिक छन्दःशास्त्र	डॉ. सत्यकेतु	99
18.	काल-गणना-गणक आर्यावर्त्त	डॉ. श्यामलेश कुमार तिवारी	104

19.	भारतीय कालगणना का स्वरूप	डॉ. बृजेश कुमार सोनकर	110
20.	गाहासत्तसई में प्रतिपादित देवर-भाभी संबन्ध	डॉ. पत्रिका जैन	115
21.	प्रत्यभिज्ञादर्शन में ज्ञान एवं भक्ति का सामञ्जस्य	डॉ. गौरव सिंह	119
22.	वेद कालीन शिक्षणाभ्यास प्रक्रिया—एक अध्ययन	डॉ. ऋचा पाण्डेय	125
23.	वेदों में पारिस्थितिकी संरक्षणोपाय	डॉ. पूजा जायसवाल	130
24.	काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित रसविरुद्धत्व	सोनाली बाजपेई	137
25.	महाकाव्य निकष पर सतीशंकरम् महाकाव्य	राघवेन्द्र मणि तिवारी	145
26.	पराशर एवं शंखस्मृति में वर्णित दाम्पत्य जीवन	सुनील कुमार	152
27.	संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति आचार्य श्रीभोजदेव का अवदान	अजय सिंह	157
28.	**Judicial approach on development of Hindi through Sanskrit**	**Prof.Rakesh Kr. Singh**	165
29.	**Understanding the concept of Rashtra (Nation) in the Dharmic Tradition: A Critique of Eurocentric Modernity**	**Dr. Prashant Shukla**	175
30.	**The Concept of Truth an Indian Perspective**	**Lokesh Kumar**	181

श्रीजीवन्यायतीर्थकृतस्य चिपिटकचर्वणस्य नान्दीश्लोकस्य विमर्शः

· डॉ. राकेशदाशः*

शोधसारः

१८९२तमे ईशवीयाब्दे जातः श्रीजीवन्यायतीर्थपादाः आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये विशिष्टं स्थानं बिभ्रति। न्यायादिषु विविधशास्त्रेषु पारदृश्वनाम् एषां कवित्वप्रतिभा अपि विशिष्टा एव आसीत्। एकैकं महाकाव्यं, गीतिकाव्यं, चित्रकाव्यञ्च विहायापि एषां नवविंशतिः रूपकाणि वर्तन्ते। तेषु एकादश नाटकानि, एकं प्रकरणं, भाणौ, व्यायोगौ, त्रयोदश प्रहसनानि च वर्तन्ते। तेषु प्रहसनेषु 'चिपिटकचर्वणम्' इति किञ्चन विशिष्टं प्रहसनं यद् असकृत् मञ्चेषु अभिनीतं वर्तते। तस्य प्रहसनस्य नान्दीश्लोकः विशिष्टः एव। श्लोकस्य अर्थः कथं निर्णेयः? अस्मिन् नान्दीश्लोके कविः कस्याः देव्याः स्तुतिं विधत्ते? गणवधू-शब्देन कस्याः निर्देशः? किमुत गणपतेः भार्या? उत वा अप्रसिद्धा काचिद् ग्रामदेवी? उत वा सरस्वती? उत वा पार्वती? कीदृशीयं नान्दी? प्रहसनस्य इतिवृत्तेन सह नान्द्याः वर्तते सम्बन्धः उत न? इत्थं बहवः विचिकित्साः अत्र वरीवर्तन्ते। प्रस्तुतप्रबन्धे अस्य एव श्लोकस्य विस्तरेण चर्चया एतेषां प्रश्नानां सप्रमाणम् उत्तरं प्रस्तोष्यते।

बीजशब्दाः

नाटकम्, नान्दी, चिपिटकचर्वणम्, श्रीशङ्कराचार्यवैभवम्।

1. कविः श्रीजीवन्यायतीर्थः

विशिष्टः विद्वान् श्रीजीवन्यायतीर्थमहोदयः १८९२ ईशवीयाब्दस्य जनवरीमासस्य षड्विंशे दिनाङ्के (२६.०१.१८९२) अखण्डवङ्गानां २४ परगनामण्डलस्य[1] भट्टपल्ल्यां[2] जनिं लब्धवान्। पितुः पञ्चाननतर्करत्नमहोदयस्य चतुष्पाठ्यां सुपद्मव्याकरणस्य अध्ययनेन श्रीजीवन्यायतीर्थस्य विद्यारम्भः अभवत्। तस्मिन् काले वङ्गेषु कालाप-मुग्धबोध-सुपद्म-संक्षिप्तसार-हरिनामामृतादीनां बहूनाम् अपाणिनीयव्याकरणानाम् अध्ययनं सुप्रचलितम् आसीत्। पितुः सकाशे प्रारम्भिकम् अध्ययनं समाप्य अयं कलिकातानगरीं प्राप्तः। तत्र संस्कृत-कलेजियेट्-विद्यालये अस्य प्रगताध्ययनं प्रारब्धम्। रिपन्-कॉलेज-नामकात् (अधुना सुरेन्द्रनाथमहाविद्यालयः इति प्रसिद्धात्) प्रतिष्ठानात् संस्कृतविभागे बी.ए.स्तरीयम् अध्ययनं समाप्य कलिकाताविश्वविद्यालयतः एम्.ए.-उपाधिम् अपि अयम् अध्यगमत्। तत्र प्रथमस्थानम् अधिकुर्वन् अयं स्वर्णपदकेन सभाजितः। ततः पितुः आग्रहेण शास्त्रचर्चायाः पीठस्थानं वाराणसीं प्राप्तवान्

*सहायकाचार्यः, संस्कृतदर्शनविभागः, रामकृष्णमिशन्-विवेकानन्दशैक्षणिकशोधसंस्थानम्, बेलुडमठम्, हावडा, पश्चिमवङ्गः

श्रीजीवः। तत्र महामहोपाध्यायस्य राखालदासन्यायरत्नस्य समीपे प्राचीननवीनन्यायशास्त्रयोः आमूलचूडम् अध्ययनम् अकरोत् श्रीजीवः। तत्र न्याय-साहित्य-व्याकरणशास्त्रेषु पाटवं सम्पाद्य 'न्यायतीर्थः', 'काव्यतीर्थः', 'व्याकरणतीर्थः' इति उपाधिभिः भूषितोऽयं पण्डितश्रेष्ठः।

हरप्रसादशास्त्रिणां मार्गनिर्देशने श्रीजीवेन 'आधुनिकतर्कविज्ञानस्य क्रमविवर्तनम्' (Evolution of Modern Logic) इति शोधप्रबन्धं विरचय्य पी.एच्.डी.-उपाधिः समधिगतः। अयं शोधबन्धः अनन्तरकाले 'न्यायसूत्रस्य प्राचीनत्वम्' (Antiquity of Nyya-sutra) इति नाम्ना कलिकाताविश्वविद्यालयात् प्रकाशितः।

अध्ययनं समाप्य सः अध्यापनजीवनस्य प्रारम्भे पितृदेवस्य चतुष्पाठ्याम् अध्यक्षत्वेन पाठनं प्रारब्धवान्। तदनन्तरम् ऋषिवङ्किमचन्द्रमहाविद्यालये अध्यापकपदवीम् अलञ्चकार। ततः कलिकाताविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागे (१९३७-५८) अध्यापकरूपेण सः अध्यापनम् अकार्षीत्। ततः स यादवपुरविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागे (१९५९-६८) अध्यापनं चकार। स दीर्घकालं यावत् संस्कृतमहाविद्यालयस्य अध्यक्षपदम् अलंकृतवान्।

बहुभिः उपाधिभिः सभाजितः एषः शास्त्रचर्चया समम् एव विविधानि काव्यानि रचयित्वा कवित्वयशसा अमृतत्वं भजते। तस्य विविधानि रूपकाणि साहित्यस्य अभिनवान् मानदण्डान् स्थापयन्ति। १९२६ ईशवीयाब्दे अस्य प्रथमप्रकाशनम् आसीत्, अन्तिमप्रकाशनञ्च १९८५ ईशवीयसंवत्सरे आसीत्। अस्य सारस्वतसृष्टिः निरवच्छिन्नरूपेण षष्टिं वर्षाणि प्राचलत्। शतायुरयं विद्वद्धौरेयः महाकविः १९९२ क्रैस्ताब्दे मरशरीरम् अत्यजत्।

2. कवेः काव्यसंसारः

2.1. श्रव्यकाव्यानि - पाण्डवविक्रमम् (अष्टादशसर्गात्मकमहाकाव्यम्), सारस्वतशतकम् (चित्रकाव्यम्), ऋतुचंक्रमणम् (गीतिकाव्यम्)

2.2. दृश्यकाव्यानि

नाटकानि – १.महाकविकालिदासम्, २.साम्यसागरकल्लोलम्, ३.श्रीशङ्कराचार्यवैभवम्, ४.नागनिस्तारम्, ५.स्वातन्त्र्यसन्धिक्षणम्, ६.विवेकानन्दचरितम्, ७.निगमानन्दचरितम्, ८.सिन्धुसौवीरसंग्रामम्, ९.श्रीकृष्णकौतुकम्, १०.रघुवंशम्, ११.कुमारसम्भवम्

प्रकरणम्– १.माधुरीसुन्दरम्

भाणः– १.विधिविपर्यासम्, २.पुरुषपुङ्गवः

व्यायोगः– १.कैलासनाथविजयम्, २.गिरिधरसंवर्द्धनम्

प्रहसनम्– १.विवाहविडम्बनम्, २.चण्डताण्डवम्, ३.भट्टसङ्कटम्, ४.पुरुषरमणीयम्, ५.क्षुत्क्षेमीयम्, ६.शतवार्षिकम्, ७.चिपिटकचर्वणम्, ८.रागविरागम्, ९.वनभोजनम्, १०.रामनामदातव्यचिकित्सालयम्, ११.दरिद्रदुर्दैवम्, १२.चौरचातुरीयम्, १३.नष्टहासम्।

एतानि विहाय अपि अस्य स्फुटकाव्यानि अनूदितानि च काव्यानि विदुषां विस्मयम् आवहन्ति।

संस्कृतसाहित्यस्य प्रायः सर्वान् विधान् स्वलेखन्या पृष्टवतः अस्य विदुषः प्रबन्धः, रम्यरचना, प्रशस्तिगाथा, शोकगीतिः, अनूदितकाव्यं चेत्यादीनि बहूनि विराजन्ते।

3. चिपिटकचर्वणस्य कथावस्तु नामकरणञ्च

चिपिटकचर्वणस्य नायकः कपाली धनलोभी अतिकृपणः च। एकदा खञ्जः भृत्यः पङ्गुरामः कपालिनः छिन्नपादुकायुगलं पथि अक्षिपत्। कुब्जपृष्ठा दासी मन्थरा कापलिनः जीर्णं पुरातनं शतच्छिद्रं छिन्नच्छत्रम् अपि मार्गे न्यक्षिपत्। मार्गेण आगच्छन् कपाली पतितं छत्रं दृष्ट्वा कुपितः यदा विचारितवान् तदा ज्ञातं यत् पादुका अपि भृत्येन क्षिप्ता। कपाली भृत्यौ भर्त्सयन् आसीत् तदा एव सहसा मुखेन पादुकाम् आदाय कश्चन सारमेयः अधावत्। कपाली सर्वं विस्मृत्य जीर्णं छत्रं कक्षे निधाय सारमेयस्य पृष्ठतः अधावत्। अल्पीयसा एव कालेन स च्छत्रेण शुनकं प्रहृत्य तस्य मुखात् पादुकाम् आच्छिद्य गृहं समागतः। किन्तु प्रहृतः सारमेयः तं दृष्टवान्। प्रहारसमये जीर्णं तत् छत्रम् अपि भग्नम्।

सारमेयदष्टं रुधिराक्तं कपालिनं गृहं प्रत्यागच्छन्तं दृष्ट्वा भार्या रङ्गिणी व्यस्ता अभूत्। भीता चिन्तिता च रङ्गिणी वैद्यस्य आह्वानाय मन्थरां प्रैषयत्। कपालिनि गृहं समागते तस्य शयनाय नूतनं कटम् एकम् आस्तृणोत्। कपाली नूतनकटस्य विस्तारणाय ताम् अतर्जयत्। वैद्यः आगम्य च्छिन्नकटे शयानं कपालिनं दृष्ट्वा कपालिनः विषये दुष्टं चिन्तयेत् इति कथितवत्यां रङ्गिण्यां कपाली अधिकम् अकुप्यत्। यतः आगते वैद्ये तस्मै दर्शनी देया। तेन धनहानिः स्यात्। वैद्यस्य दर्शनीं कः दास्यति इति पृच्छन्तं कपालिनं रङ्गिणी अबोधयत् यत्, प्राणाः दर्शन्याः मूल्यवत्तराः इति। तावता मन्थरया दर्शितमार्गः वैद्यः गृहं प्राविशत्। कपालिनः हस्तनाडीं परीक्ष्य वैद्यः असूचयत् यद् अयं गृहस्वामी नूनम् एव क्रुद्धेन शुनकेन दष्टः। इदानीं तस्य कृत्यम् एष वैद्यः ज्ञास्यति इति भयेन कपाली तूष्णीम् अशेत। एतेन रङ्गिण्याः चिन्ता अवर्धत। वैद्यः अपि कपालिनं मूर्छितप्रायं दृष्ट्वा तस्य विषविकारम् अनुमितवान्। सः असूचयत् यत् लालाक्लिन्नः शुनकः एनं दष्टवान्। शुनकस्य लालया शरीरे प्रविष्टं विषं जलातङ्करोगस्य सम्भावनां जनयति। तत्प्रयुक्तः विकारः कपालिनम् आक्रामति इति। एतस्मात् रक्षणाय झटिति गव्यघृतम् उष्णदुग्धेन समं रोगी पिबेत्। इदम् आकर्ण्य कपाली गव्यघृतस्य व्ययेन आशङ्कितः स्वगतं वैद्यं निन्दितुं प्रारभत। एतेन तस्य अधरस्पन्दनं दृष्ट्वा रङ्गिणी अधिकं दुश्चिन्तासक्ता। वैद्यः अपि एतद् दृष्ट्वा विकारस्य लक्षणं वर्धते इति सूचयित्वा शुनकदष्टस्य स्थानस्य तप्तायःशलाकया दाहस्य निदानम् अवदत्। यदि तथा न क्रियेत तर्हि अयं रोगी स्वयम् उन्मत्तशुनकः इव बुक्कन् सर्वान् दङ्क्ष्यति स्वयं च ततः मरिष्यति, तस्य दंशनेन अन्ये अपि तथा बुक्कन्तः मरिष्यन्ति इति सूचितवान्। कपाली भीतः क्रुद्धः च अचिन्तयद् यद् वैद्यः तस्य शरीरे बृहत्तरं क्षतम् उत्पाद्य अधिकं धनं प्रेप्सुः अस्ति। अतः यदा लोहशलाकादीन् व्यवस्थापयितुं रङ्गिणी निर्गता तदा कपाली सारमेयवत् नखदन्तादिभिः वैद्यम् आक्रमितुम् उद्युक्तः। तेन भीतः वैद्यः कथम् अपि पलायितः।

रङ्गिणी प्रत्यागत्य वैद्यम् अदृष्ट्वा यदा अपृच्छत् वैद्यः कुत्र इति तदा कपाली उक्तवान् यत्, वैद्यः औषधं सङ्गहीतुं गृहं गतवान्। वैद्यस्य आगमने विलम्बं दृष्ट्वा रङ्गिणी पल्ल्यां विश्रुतं बहुविधरोगाणां परिहर्तारं तान्त्रिकम् आह्वातुं निर्गता।

अनन्तरं प्रतिवेशिभिः अनुरुद्धः कपटवेशधारी तान्त्रिकः प्रविशति। स केनचित् कौशलेन महाकृपणस्य गृहस्वामिनः सकाशात् किञ्चित् धनम् अपहृत्य रङ्गिण्यै प्रदातुं कृतसङ्कल्पः आसीत्। तान्त्रिकः आत्मानं तन्त्रमन्त्रविद् इति परिचाययति। कपालिनः शरीरात् प्रवहन्त्याः रुधिरधारायाः निवारणाय क्षतस्थाने शर्कराचूर्णस्य लेपनसमये स कम् अपि विचित्रं मन्त्रम् उदचारयत्। शर्करायाः क्षतस्थाने लेपनात् सद्य एव शोणितप्रवाहः स्थगितः। रुधिररोधस्तु शर्करया एव न तु मन्त्रगुणात् इति ज्ञात्वा कपाली तान्त्रिकं प्रवञ्चकं ज्ञातवान्। किन्तु स तान्त्रिकस्य प्रवञ्चकत्वं प्रमाणयितुं यदा प्रयतितवान् तदा तान्त्रिकः चातुर्यपूर्णवाक्यैः कपालिनः चरितोद्घाटनं करोति स्म। एतेन कपाली उपायान्तरम् अप्राप्य नवीनोपायस्य अन्वेषणाय तान्त्रिकेण उक्तम् आचरितुं सिद्धः जातः। तान्त्रिकः विषविकारनाशाय शान्तिकर्म कर्तव्यम् इति असूचयत्। तत्र शान्तिकर्मणि तान्त्रिकस्य दक्षिणा कियती इति पृष्टः तान्त्रिकः एकं हरीतकीफलम् अस्य कर्मणः दक्षिणा इति अवदत्। कपालिनः निरीक्षा आसीत् यत् तान्त्रिकः अधिकं धनं याचिष्यते। तेन तान्त्रिकस्य कपटता प्रकटिता स्यात्। किन्तु तान्त्रिकस्य वचनेन कपाली पराभूतः। कपाली तस्मै हरितकीफलद्वयं प्रतिशृणुते। अधिकं गृहीतं चेत् मन्त्रापराधः स्यात् इति उक्त्वा तान्त्रिकः तद् अपि निराकरोत्। एतेन समधिकं प्रभावितं कपालिनं तान्त्रिकः अवदत् यत् विषनाशाय क्रियमाणं शान्तिकर्म मासत्रयं यावत् चलिष्यति। तत्र घटे पञ्चरत्नदानकाले यत् सुवर्णं दीयते तत् त्रिगुणितं भविष्यति। एतद् उक्त्वा स नाम्ना परिचितयोः कस्यचित् दैवज्ञस्य अनुग्रहात् लब्धधनयोः द्वयोः विशिष्टयोः धनिकयोः नाम उक्त्वा तयोः धनलाभे सहायकः स एव इति प्रत्यपादयत्।

ततः तान्त्रिकः अवदत् यत् एतस्य कर्मणः सफलतायै मासत्रयं परिवारसदस्यैः चिपिटकचर्वणव्रतं परिपालनीयम्। अत्र व्रते सर्वे अपि मासत्रयं यावत् केवलं चिपिटकम् एव भक्षयेयुः इति नियमः। एतेन मासत्रयं यावद् गृहे व्यये न्यूनतां परिलक्ष्य सन्तुष्टः कपाली घटे स्थापनाय तान्त्रिकाय सुवर्णं दातुं सिद्धः अभवत्। यद्यपि परीक्षायै स आदौ एकतोलकं सुवर्णम् एव दातुम् ऐच्छत् किन्तु तान्त्रिकः तं कल्पितेन शास्त्रवचनेन अबोधयत् यत् स्वर्णत्रैगुण्यकर्मणि दश, विंशतिः इत्येवं शून्ययुताङ्कमितं सुवर्णम् एव देयम् अन्यथा सर्वनाशः भवेत्। उपायान्तरम् अप्राप्य कपाली दश तोलकानि सुवर्णस्य दातुम् अङ्गीकृतवान्।

घटे सुवर्णं स्थापयित्वा वस्त्रेण आच्छाद्य तान्त्रिकः आफिम-निद्राचूर्णादिमिश्रितं घटजलं कपालिने प्रादात्। तेन मूर्छां गतः कपाली। तदा तान्त्रिकः झटिति एव कलशात् स्वर्णम् अपहृत्य पलायितः। एतावता अल्पबुद्धिः पङ्गुरामः गृहं प्रविश्य कर्तारं सुखेन निद्राणं दृष्ट्वा पार्श्वे पूजास्थानं कल्पितं दृष्ट्वा कपालिनः पादुकायुगलम् आसने स्थापयित्वा पादुकादेव्याः प्रीत्युत्पादनाय पूजां प्रारब्धवान्। यतः पादुकायाः कारणाद् एव तस्य महत् कष्टं जातम् आसीत्। स्वयम् अलक्ष्यतया स्थितः तान्त्रिकः एतत् दृष्ट्वा झटिति गृहं प्रविश्य कपालिनं जागरयित्वा अवदत् यत् दासस्य स्पर्शेन घटस्थितं सुवर्णं जले द्रवीभूतम् अस्ति इति।

भीतः चिन्तितः कपाली पुनः तान्त्रिकेण सान्त्वितः। तान्त्रिकः उक्तवान् यत्, पुनः यदि विंशतिः तोलकानि सुवर्णस्य दास्यति कपाली तर्हि तत् षष्टितोलकमितं भवेत्। नष्टं धनम् अपि कपाली स्वयं तदीया भार्या वा नूनम् एव प्राप्स्यति इति तान्त्रिकः अवोचत्।

वस्तुतः तान्त्रिकः बहिः गत्वा घटात् अपहृतं सुवर्णं प्रतिवेशिने दत्त्वा रङ्गिण्यै सुवर्णदानाय असूचयत्। प्रतिवेशी अपि दशतोलकमितं स्वर्णं रङ्गिण्यै समर्पितवान्। एतेन रङ्गिण्याः अपि चिपिटकचर्वणे श्रद्धा उत्पन्ना।

रङ्गिणी स्वगतम् एतद् वदन्ती गृहं प्रविश्य प्रकाशम् अवोचत् यत् पत्युः जीवनरक्षायै सा अवश्यमेव चिपिटकचर्वणव्रतं पालयिष्यति इति। तावता भृत्यौ अपि तथा कर्तुं सिद्धौ जातौ।

अत्र दृश्यते कृपणस्य कपालिनः मूर्खतावशात् तस्य धननाशः सम्पन्नः। किन्तु अन्ते तान्त्रिकस्य कौशलेन तस्य भार्या किञ्चिद् धनं प्राप्नोत्। अपि च कपालिनः गृहे अपि सर्वेषां किञ्चित् साम्मनस्यम् उत्पन्नम् इति। प्रेक्षकाः च अद्भुतेन एतेन प्रहसनेन अनाविलं हर्षं विशुद्धं रसं च अन्वभूवन् इति।

4. चिपिटकचर्वणस्य मङ्गलश्लोकः

चूताष्ठितुल्यचिपिटायितगण्डदेशा चण्डक्रियारुचिरखण्डितहास्यलेशा।
कुप्यत्कपालिनयनानलसामिधेनी पुष्णातु वो गणवधूः क्षणधूतवेणिः॥

4.1. सरलार्थः

यस्याः देव्याः गण्डदेशः आम्रस्य बीजम् इव क्षामः, भयङ्करीषु क्रियासु यस्याः रुचिः, अविरतं यस्याः अधरयोः स्मितं विराजते, या क्रुद्धस्य महादेवस्य तृतीयनेत्रगतस्य अग्नेः इन्धनस्वरूपा, या निमेषान् वेणीं कम्पयति सा शिवपत्नी महाकाली देवी युष्मान् पुष्णातु, युष्मभ्यं समृद्धिं प्रयच्छतु।

4.2. विशिष्टशब्दानां विवेचनम्

4.2.1. अष्ठि - शब्दस्य फलमध्यगतबीजम् इति अर्थः। असु क्षेपणे इति धातोः क्तिन्-प्रत्ययः क्रियते। अस्+ति इति दशायां 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इति सूत्रेण धातोः सकारस्य मूर्धन्यादेशः तथा प्रत्ययस्य तकारस्य थकारः निपात्यते। ततः अष्+थि इति दशायां 'ष्टुना ष्टुः'[4] इति सूत्रेण अष्ठि इति शब्दः निष्पाद्यते। यथा शरीरस्य बहिः स्थितस्य कोमलस्य मांसस्य चर्मणः च अन्तः कठिनं अस्थि भवति, तथैव फलस्य मध्ये कठिनम् अस्थि इव अष्ठिः भवति। अतः अष्ठिशब्दस्य बीजम् इति अर्थः। चूतशब्दस्य आम्रफलम् इति अर्थः तु प्रसिद्धः एव।

4.2.2. चिपिटायित - नामधातुनिष्पन्नः शब्दः। चिपिटशब्दस्य पृथुकम् इति अर्थः भवति इति पूर्वं विचारितम्। चिपिट इव आचरति इति विग्रहे 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'[5] इति सूत्रेण चिपिटशब्दात् क्यङ्-प्रत्ययः भवति। तत्र ककारस्य 'लशक्वतद्धिते'[6] ङकारस्य च 'हलन्त्यम्'[7] इति सूत्रेण इत्संज्ञा भवति। ततः चिपिट+य इति दशायाम् 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'[8] इति सूत्रेण टकारोत्तवर्तिनः अकारस्य दीर्घः भवति। तेन चिपिटाय इति रूपं भवति। तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः'[9] इति सूत्रेण धातुसंज्ञा भवति। ततः परं चिपिटाय-धातोः 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च'[10] इति सूत्रेण कर्त्रर्थे क्त-प्रत्ययः विधीयते। तेन चिपिटायित इति रूपं सिध्यति। अस्य शब्दस्य चिपिटम् इव क्षीणम् इति अर्थः भवति।

4.2.3. चण्डक्रियारुचिरखण्डितहास्यलेशा - पदस्य चतुर्धा व्याख्यानं सम्भवति। क्रमेण पश्यामः–

4.2.3.1. प्रथमः पक्षः - चण्डक्रियारुचिः अखण्डितहास्यलेशा इति प्रथमः छेदः। अस्य पक्षस्य विग्रहः पूर्वं प्रदर्शितः। देव्याः भयङ्करक्रियासु रुचिः वर्तते। पुनश्च तस्याः मुखे सर्वदा एव हास्यस्य लेशः विराजते इति तात्पर्यम्।

4.2.3.2. द्वितीयः पक्षः - चण्डक्रिया रुचिरखण्डितहास्यलेशा इति द्वितीयः छेदः। तत्र प्रथमं पदं चण्डक्रिया

इति। चण्डा क्रिया यस्याः सा चण्डक्रिया इति बहुव्रीहिः। जगदम्बायाः महाकाल्याः क्रियाः भयङ्कर्यः भवन्ति इति कृत्वा देवी चण्डक्रिया इति उच्यते। रुचिरखण्डितहास्यलेशा इति शब्दस्य इत्थं व्याख्यानम्– रुचिरः च स खण्डितः च रुचिरखण्डितः इति कर्मधारयः। रुचिरखण्डितं च तद् हास्यं च रुचिरखण्डितहास्यम् इति कर्मधारयः। रुचिरखण्डितहास्यस्य लेशः यस्याः सा रुचिरखण्डितहास्यलेशा इति बहुव्रीहिः। देव्याः स्मितं सुन्दरं, किन्तु भयङ्करक्रियाया आचरणकाले तस्याः हास्यं खण्डितम्। तथापि तस्याः मुखे हास्यस्य लेशः राजते इति तात्पर्यम्।

4.2.3.3. तृतीयः पक्षः - चण्डक्रिया अरुचिरखण्डितहास्यलेशा इति तृतीयः छेदः। द्वितीयपक्षे यथा अर्थः तथा एव अत्र अपि भविष्यति। केवलं देव्याः हासः असुन्दरः इति प्रतीयते। देवी भयङ्करक्रियासु लिप्ता इति कृत्वा तस्याः हासः अपि क्रूरः भयानकः च। तस्मात् स हासः असुन्दरः।

4.2.3.4. चतुर्थः पक्षः - अत्र पूर्णः शब्दबन्धः एकम् एव पदम्। चण्डक्रियया रुचिरं चण्डक्रियारुचिरम् इति कर्मधारयः। चण्डक्रियारुचिरं च खण्डितं च चण्डक्रियारुचिरखण्डितम् इति कर्मधारयः। चण्डक्रियारुचिरखण्डितं च हास्यं च चण्डक्रियारुचिरखण्डितहास्यम् इति कर्मधारयः। चण्डक्रियारुचिरखण्डितहास्यस्य लेशः यस्याः सा चण्डक्रियारुचिरखण्डितहास्यलेशा इति बहुव्रीहिः। देव्याः चण्डक्रियायां तस्याः हास्यं खण्डितं, तथापि तस्याः मुखे रुचिरस्य हासस्य लेशः राजते इति तात्पर्यम्। किन्तु इदम् अत्र स्मर्तव्यं यत्, इदम् अखण्डं पदम् इति स्वीक्रियते चेत् नान्द्याम् अष्टौ पदानि इति यः नियमः स उल्लङ्घितः भवति।

4.2.4. सामिधेनी - समिध् इति अर्थः। समिध् इत्युक्ते यज्ञे उपयुज्यमानम् इन्धनम्।

4.3. विशिष्टं व्याख्यानम् – अयं श्लोकः अस्य प्रहसनस्य मङ्गलश्लोकः नान्दीश्लोकः च। अत्र कविः प्रहसनस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तये इष्टं स्मरन् पाठकेभ्यः दर्शकेभ्यः च आशीर्वादम् अपि यच्छति। त्रिविधेषु मङ्गलेषु इदम् आशीर्वादात्मकं मङ्गलम्।

अत्र कस्याः देव्याः स्तुतिः वर्तते इति विषये विचारः प्रवर्तनीयः। कस्याश्चिद् देव्याः विशिष्टतया नामग्रहणं न कृतम् इति कारणेन अत्र विचारस्य अवकाशः वर्तते। 'गणवधूः युष्मान् पुष्णातु' इति कविः अत्र प्रार्थयते। इयं गणवधूः का? गणस्य वधूः गणवधूः इति समासे उपस्थितस्य गणशब्दस्य कः अर्थः? अस्मन्मते गणशब्दः शिवस्य वाचकः। 'गणेभ्यश्च वो गणपतिभ्यश्च वो नमः' इति यजुर्वेदे रुद्रस्य स्तुतिः सुप्रसिद्धा एव। बहुत्र श्रुतौ पुराणेषु च गणपति-गणाध्यक्ष-गणेशादि-शब्दैः भगवतः शिवस्य उल्लेखः विहितः वर्तते। एतेन शिवः एव गणशब्देन अत्र विवक्षितः इति अलं विस्तारेण। ननु कथम् अत्र 'पुष्णातु वः शिववधूः क्षणधूतवेणिः' इति साक्षाद् एव कविना न लिखितम्? गणवधूः क्षणधूत इति अनुप्रासाय कविना अत्र गणशब्दस्य एव प्रयोगः कृतः इति विभावयन्तु सहृदयाः।

गणः शिवः, तस्य वधूः महाकाली एव अत्र स्तूयते। वस्तुतः शिवपत्न्याः सती, पार्वती, दुर्गा इत्यादीनि बहूनि नामानि रूपाणि च प्रसिद्धानि। अत्र तु महाकालीरूपा एव गणवधूत्वेन अस्माभिः स्वीक्रियते। अस्मिन् श्लोके गणवध्वाः यानि विशेषणानि उक्तानि तानि सर्वाणि महाकाल्याम् एव घटन्ते इति अत्र कारणम्। अत्र

प्रथमतः त्रिषु पादेषु देव्याः यथाक्रमं रूपं, क्रिया, स्वरूपं च वर्णितम् अस्ति। प्रथमे पादे देव्याः बाह्यं रूपं वर्ण्यते। देव्याः सुन्दरं रूपम् अत्र न वर्णितम्। सा हि शुष्कमुखी। तस्याः गण्डदेशः अपुष्टः इति प्रथमे पादे वर्णितम्। भयङ्करक्रियासु रता अपि सा हसति। एतादृशेषु भयानकक्रियासु सा रुचिं वहति। तानि कुर्वती सा आनन्दिता भवति इति द्वितीये पादे। सा हि भगवतः शिवस्य शक्तिरूपिणी इति तृतीये पादे वर्तते।

देव्याः महाकाल्याः विषये इदं वर्णनं सङ्गच्छते। महाकाल्याः विषये प्रसिद्धासु कथासु देव्या भीकररूपप्रदर्शनेन भगवतः शिवस्य भायनस्य कथा मुख्यतां भजते। महाभागवतपुराणनामकस्य शाक्तस्य उपपुराणस्य अष्टमाध्याये एषा कथा विस्तरेण वर्णिता। यदा दक्षयज्ञे गमनाय सती शिवेन वारिता तदा देवी स्वीयं रूपं प्रकटयामास इति वर्णने तत्र उच्यते–

त्यक्त्वा हेमपटीम् आसीद् वृद्धावस्थासमप्रभा।
दिगम्बरा लसत्केशा ललज्जिह्वा चतुर्भुजा॥
कालानललसद्देहा स्वेदाक्तेन तनूरुहा।
महाभीमा घोररावा मुण्डमालाविभूषणा॥
उद्यत्प्रचण्डकोट्याभा चन्द्रार्धकृतशेखरा।
उद्यदादित्यसङ्काशा किरीटोज्ज्वलमस्तका॥[11]

अत्र देव्याः वृद्धावस्था वर्णिता। वृद्धाया एव मुखं शुष्कीभवति इति प्रकृतश्लोकेन तस्य साम्यं दृश्यते। पुनश्च सा भाययति शिवम् इति तत्रैव वर्ण्यते–

शम्भुः समीक्ष्य तां देवीं क्रोधविस्फुरिताधराम्।
कालाग्नितुल्यनयनां मीलिताक्षस्तदाभवत्॥
सहसा भीमदंष्ट्रास्या साट्टहासं तदाकरोत्।
तन्निशम्य महादेवो भीतभीता विमुग्धवत्॥
कष्टेनोन्मील्य नेत्राणि तां ददर्श भयानकाम्। [12]

शिवः क्रोधविस्फुरिताननां कालाग्नितुल्यनयनाम् अट्टहासं कुर्वतीं तां दृष्ट्वा भीतभीतः स्वनयनानि निमीलितवान् इति अत्र स्पष्टं वर्ण्यते।

पुनश्च दक्षयज्ञस्थले शिवनिन्दाम् असहमानायां सत्यां शरीरं त्यक्तवत्यां शिवः यदा वीरभद्रं दक्षयज्ञविनाशनाय प्रैषयत् तदा तेन सह देवी स्वयम् अपि भद्रकालीरूपं परिगृह्य गता इति पुराणान्तरे दृश्यते। सा भद्रकाली क्षुत्क्षामा कोटराक्षी मसिमलिनमुखी च वर्तते इति तस्याः देव्याः ध्यानमन्त्रे वर्ण्यते। तथाहि–

क्षुत्क्षामा कोटराक्षी मसिमलिनमुखी मुक्तकेशी रुदन्ती
नाहं तृप्ता वदन्ती जगदखिलमिदं ग्रासमेकं करोमि।
हस्ताभ्यां धारयन्ती ज्वलदनलशिखासन्निभं पाशयुग्मं
दन्तैर्जम्बूफलाभैः परिहरतु भयं पातु मां भद्रकाली॥

प्रस्तुतश्लोकस्य वर्णनेन सह देव्याः भद्रकाल्याः रूपम् अपि सादृश्यं भजते।

पुनश्च शुम्भनिशुम्भाभ्यां सह जगदम्बायाः युद्धस्य समये चण्डमुण्डवधार्थं देव्याः जगदम्बायाः मुखं क्रोधेन कृष्णवर्णम् अभवत्। तस्याः ललाटफलकाद् असिपाशहस्ता शुष्कमांसा ललज्जिह्वा काली देवी विनिर्गता। मार्कण्डेयपुराणान्तर्गते देवीमाहात्म्ये सप्तमाध्याये एषा वर्णना उपलभ्यते।

ततः कोपं चकारोच्चैर्ललाटफलकाद् द्रुतम्।
कोपेन चास्या वदनं मसीवर्णम् अभूत् तदा॥
भ्रुकुटीकुटिलात् तस्या ललाटफलकाद् द्रुतम्।
काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी॥
विचित्रखट्वाङ्गधरा शिरोमालाविभूषणा।
द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा॥
अतिविस्तारवदना जिह्वाचलनभीषणा।
निमग्ना रक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा॥ [13]

एवं विविधग्रन्थेषु विविधप्रकरणेषु देव्याः काल्याः यद् वर्णनम् उपलभ्यते तेन ज्ञायते यत् एषा काली देवी एव दर्शनेन क्रियया च भयङ्करी। सा एव च भगवतः शिवस्य शक्तिस्वरूपिणी। अत्र अस्मिन् श्लोके तस्याः महाकाल्याः एव वर्णनम् उपलभ्यते।

इदम् अपि अत्र अवधेयं यत् कविः अस्मिन् नाटके देव्याः त्रयाणां रूपाणां स्तुतिं विधत्ते। भरतवाक्ये तावत् देव्याः लक्ष्म्याः सरस्वत्याः च उल्लेखं कुरुते तयोः आशीर्वादं च प्रार्थयते। तन्त्रपुराणादिषु देव्याः त्रीणि रूपाणि प्रकल्प्यन्ते। तानि च महाकाली, महालक्ष्मीः, महासरस्वती। अत्र भरतवाक्ये महालक्ष्म्याः महासरस्वत्याः च प्रार्थनेन अपि इदं दृढं भवति यत् कविः महाकाल्याः अपि स्तुतिं कुर्यात्। सा च स्तुतिः अत्र नान्दीश्लोके विहिता इति देव्याः रूपत्रयस्य वर्णनम् आराधनं च कविना अत्र विहितम् इति सुधियः विभावयन्तु।

वस्तुतः, मङ्गलश्लोके कविः सम्पूर्णस्य काव्यस्य वर्ण्यमानविषयस्य दिग्दर्शनं कारयति इति परम्परा। अत्र श्लोके अपि सुन्दरेण कौशलेन विद्वन्मनोरमतया कविः प्रस्तुतस्य प्रहसनस्य सर्वं विषयजातं वर्णितवान् एव इति सहृदयानां न दृगगोचरं स्यात्।

नाटके पत्न्याः रङ्गिण्याः चेष्टया कपालिनः कल्याणं भवति। सा रङ्गिणी तान्त्रिकम् आनाय्य कपालिनं वञ्चयित्वा एव तम् आनन्दयति। कृपणः कपाली छत्रोपानहोः नाशेन, शुनकदंशनेन च पीडितः आसीत्। पुनः पङ्गुरामः अन्यस्य सकाशात् पादुकाम् आनीय तस्य अपयशः अपि सम्पादितवान् आसीत्। इत्थं दुःखे निमग्नः कपाली नष्टं सुवर्णं पुनः प्रतिवेशिभ्यः लब्ध्वा आनन्दम् अलभत।

कपाली रङ्गिणीं सम्बोधयति 'चूताष्ठिलम्बचिबुके' इति। देवी च वर्णिता 'चूताष्ठितुल्यचिपिटायितगण्डदेशा' इति। पुनश्च कपाली रङ्गिणीं विशेषयति 'ललज्जिह्वा' इति पदेन। देव्याः महाकाल्याः ललज्जिह्वात्वं सुप्रसिद्धम् एव। एताभ्यां पदाभ्यां रङ्गिण्याः तादृशम् एव रूपं वर्णितं यद् रूपं देव्याः महाकाल्याः नान्दीश्लोके वर्णितम् अस्ति। देव्याः अपरं विशेषणम् अत्र 'क्षणधूतवेणिः' इति। चिपिटकचर्वणव्रतं यदा तान्त्रिकेण प्रस्तुतं तदा रङ्गिणी 'सवेणीकं शिरश्चालयन्ती' तद् निराकरोत्। अतः इदं

विशेषणम् अपि रङ्गिण्याः विषये सार्थकं भवति। पुनश्च रङ्गिणी यद् यद् अपि करोति तेन कपाली न सन्तुष्यति। अन्ततो गत्वा रङ्गिण्याः क्रियाभिः तस्य आनन्दः जायते चेद् अपि कदाचिद् अपि रङ्गिण्याः क्रियासु तस्य सन्तुष्टिः नास्ति। यथा भगवान् शिवः देव्याः सत्याः क्रियाभिः भयभीतः मोहितः च जातः आसीत्। कपाली अपि तान्त्रिकेण अहिफेनमिश्रं पानीयं पीत्वा मोहितः जातः आसीत्। इदं परोक्षतः रङ्गिण्याः क्रियया एव अभवत्। कपाली यदा यदा रङ्गिणीं पश्यति तदा तदा एव कुपितः भवति। अतः कपालिनः क्रोधस्य कारणरूपिणी रङ्गिणी। यथा भगवतः शिवस्य क्रोधकारणम् अभवत् देवी सती। इत्थं प्रकृतप्रहसनस्य विषयाः सूक्ष्मतया अत्र श्लोके ध्वनिताः सन्ति। तथा च अत्र तृतीयपादे शिवस्य नामरूपेण कपाली इति शब्दस्य उच्चारणं, तस्य कुप्यत् इति विशेषणदानेन तस्य कोपनस्वभावस्य सूचनं च कविना विहितम्। प्रहसने च सदा क्रोधशीलस्य नायकस्य नाम कपाली इति एव प्रदत्तम् इति स्पष्टम् अत्र नायकचरितस्य ध्वननम् अपि समवगच्छन्ति एव सुधियः।

4.4. अलङ्काराः – अस्मिन् श्लोके नैके अलङ्काराः सन्ति। प्रथमतः शब्दालङ्कारान् विवेचयामः।

4.4.1. वृत्त्यनुप्रासः - चूत, चिपिटायित, चण्ड, रुचिर इति शब्देषु चकारस्य; कुप्यत्, कपालि इत्यादिषु शब्देषु ककारस्य; नयनानलसामिधेनी इति शब्दे नकारस्य; पुष्णातु, गणवधूः, क्षण इत्यादिशब्देषु णकारस्य असकृद् आवृत्त्या अत्र वृत्त्यनुप्रासः।

4.4.2. श्रुत्यनुप्रासः - ट-ठ-ड-ण-ष-काराणां (चूताष्ठि, चिपिटायित, गण्ड, चण्ड, खण्डित, पुष्णातु इत्यादिशब्देषु); क-ख-ग-ह-काराणां ; च-श-काराणां च प्रयोगात् श्रुत्यनुप्रासः।

4.4.3. अन्त्यानुप्रासः - देशा लेशा इति पादयोः अन्ते समानवर्णसत्त्वात् अन्त्यानुप्रासः।

4.4.4. छेकानुप्रासः - ण्ड इति व्यञ्जनसङ्घातस्य (गण्ड, चण्ड इत्यत्र); कुप्यत्-कपालि इत्यत्र ककारपकारयोः आवृत्त्या छेकानुप्रासः च वर्तते।

4.4.5. शब्दालङ्कारसङ्करः - अत्र एते सर्वेऽपि अलङ्काराः समानेषु पदेषु वर्तमानैः वर्णैः एव प्रवर्तन्ते इति कृत्वा पृथक् कर्तुं न शक्यन्ते। तस्मात् अत्र एतेषां सङ्करः वर्तते।

4.4.6. श्लेषः - अत्र तृतीयपादे उच्चारितशब्दस्य बहुधा व्याख्यानसम्भवात् अत्र श्लेषालङ्कारः अपि वर्तते।

अथ अर्थालङ्काराः अपि सन्ति अत्र–

4.4.7. उपमा - प्रथमपादे चूताष्ठिगण्डदेशयोः सादृश्यं वर्णितम् अस्ति। अत्र उपमावाचकस्य तुल्यशब्दस्य अपि प्रयोगः वर्तते। तेन अत्र उपमालङ्कारः अस्ति। चूताष्ठिः अत्र उपमानं, गण्डदेशः उपमेयः, तुल्य इति शब्दः सादृश्यवाचकः, चिपिटायितत्वं सामान्यधर्मः इति चतुर्णाम् अपि स्पष्टतया उल्लेखाद् अत्र पूर्णोपमाऽलङ्कारः।

4.4.8. रूपकम् - तृतीयपादे क्रुद्धस्य महादेवस्य नेत्राग्नेः समिद्रूपेण गणवध्वाः वर्णनाद् रूपकालङ्कारः। अत्र गणवध्वाम् एव इन्धनत्वम् आरोपितम्।

4.4.9. संसृष्टिः - परस्परनिरपेक्षतया उपमा-रूपक-विरोधाभासानां सत्त्वाद् अत्र त्रयाणां संसृष्टिः वर्तते।

4.5. अलङ्कारध्वनिः - अत्र देव्याः मुखम् आम्रस्य बीजम् इव इति वर्णनात् देव्याः अपुष्टता ध्वन्यते। सा अपुष्टा देवी वः पुष्णातु इति च कथितम्। पुनश्च सा चण्डक्रियायां रुचिशीला चेद् अपि युष्माकं कल्याणं विदधातु। चण्डक्रियायां रुचिमती सती कल्याणकारिणी इति कल्पनात् अत्र विरोधाभासालङ्कारः ध्वन्यते। अत्र

साक्षात् अभिधया देव्याः अपुष्टता नोक्ता इति विरोधाभासस्य ध्वनिः।

एतद् व्यतिरिच्य श्लेषः समासोक्तिः च पूर्वं व्याख्यातम्।

5. उपसंहारः

साहित्यदर्पणे[14] उक्तं यत्, नान्दी अष्टपदा द्वादशपदा वा भवेत्। अत्र अष्टपदा नान्दी दृश्यते। प्रथमतृतीयचरणयोः एकैकं पदं, द्वितीये पादे द्वे पदे, चतुर्थे चरणे च चत्वारि पदानि इति अष्टौ पदानि अत्र नान्दीश्लोके। अस्यां नान्द्यां देव्याः प्रशंसया तस्याः स्तुतिः तथा पुष्णातु इति आशीर्वचनम् अपि विद्यते। अत्र कपाली इत्यादिभिः शब्दैः श्लेषेण तथा प्रस्तुतायाः महाकाल्याः व्यवहारान् रङ्गिण्याम् अप्रस्तुतायाम् आरोपितम् इति समासोक्तिः अपि वर्णयितुं शक्यते। श्लेषेण समासोक्त्या च अभिधेयस्य वस्तुनः वर्णनाद् अत्र पत्रावली नान्दी इति अस्माकं मतिः।

सन्दर्भाः

1. अधुना पश्चिमवङ्गस्य उत्तरचब्बिशपरगनामण्डलस्य
2. भाटपाडा इति प्रसिद्धे स्थाने
3. अष्टाध्यायी ६.३.१०९
4. अष्टाध्यायी ८.४.४१
5. अष्टाध्यायी ३.१.११
6. अष्टाध्यायी १.३.८
7. अष्टाध्यायी १.३.३
8. अष्टाध्यायी ७.४.२५
9. अष्टाध्यायी ३.१.३२
10. अष्टाध्यायी ३.४.७२
11. महाभागवतपुराणम्, ८/५०-५२
12. महाभागवतपुराणम्, ८/५३-५५
13. दुर्गासप्तशती ७/५-८
14. साहित्यदर्पणः ४/२५

प्रसन्नभारते राष्ट्रियभावनायाः चिन्तनम्

· प्रो. जयप्रकाशनारायण*

शोधसारः

शोधपत्रेऽस्मिन् गिरिजाशङ्करमिश्रविरचिते प्रसन्नभारतमहाकाव्ये वर्णितस्य स्वतन्त्रतायाः भावनायाः संक्षिप्तं विवेचनं कृतम् वर्तते। कवेः उद्देश्यमस्ति यत् एतादृशं काव्यं पठित्वा जनानां मध्ये राष्ट्रीयतायाः भावना जागरिता भवेत् इति। इदानीं भारतस्य स्वतन्त्रतायाः अमृतमहोत्सवः आयोज्यते। अतः स्वतन्त्रतापरकं काव्यं विवेचनपठित्वा समाजे राष्ट्रगौरवस्य भावना जागरिता भविष्यति।

बीजशब्दाः

प्रसन्नभारतम्, महाकाव्यम्, राष्ट्रगौरवं, सिकन्दरः, वीरपुत्रप्रसवा, गिरिजाशङ्करमिश्रः।

पण्डितगिरिजाशङ्करमिश्रविरचितं प्रसन्नभारतं नाम महाकाव्यं राष्ट्रगौरवगुम्फितं भारतभक्तिभावनायुतं अर्वाचीनं वीरकाव्यं च वर्तते। अस्मिन् महाकाव्ये पञ्चदशसर्गाः सन्ति। महाकाव्यमिदं ऐतिहासिकघटनाधारितं वर्तते। अस्मिन् महाकाव्ये महाप्रज्ञचाणक्यस्य एवं च यूनानवास्तव्यसिकन्दरस्य घटनावर्णिता वर्तते। चाणक्यस्य मनसि त्यागतपोमयी राष्ट्रस्य हिताय तितिक्षा एवं सिकन्दरस्य मनसि सर्वस्व हरणोद्यमो विश्वविजयाऽऽकाङ्क्षा च वर्तते। संस्कृतस्य अर्वाचीनमहाकाव्येषु प्रसन्नभारतम् महाकाव्यं महत्वपूर्णमस्ति –

प्रसन्नभारतन्नाम महाकाव्ये मनोरमम्।
गिरिजाशङ्करोमिश्रः प्रणिनाय महाकविः॥

राष्ट्रशब्दः संस्कृतवाङ्मये अनेकार्थवाचकः प्राप्यते। यस्य अभिप्रायः भवति स्वदेशाभिमानं, स्वलोकाभिमानं स्वराष्ट्राभिमानञ्च। राष्ट्रियभावनया वशीभूताः जनाः स्वराष्ट्रस्य कृते स्वकीयं सर्वस्वमपि त्यागं बलिदानं च कर्तुं सन्नद्धाः भवन्ति। राष्ट्रस्थस्वतंत्रतायै जनाः हसन्तः स्ववक्षसि शस्त्रप्रहारं सहन्ते मृत्युदण्डं च प्राप्नुवन्ति। एवं विधानां रोमाञ्चकारीणां बलिदानानां पृष्ठे या प्रबला अदम्या भावना सक्रिया भवति सैव राष्ट्रियभावना उच्यते। भारतवर्षे इयं राष्ट्रियतायाः भावना वैदिकालादेव प्रवृत्ता दृश्यते यथा **माताः भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**।[2] ऋग्वेदादिषु स्थाने-स्थाने पदे-पदे वा देशस्य स्वतंत्रतायाः प्रार्थना अथ च अभिशंसा कृता

अध्यक्ष, संस्कृतविभागे, जामियामिल्लियाइस्लामिया विश्वविद्यालयः, नई दिल्ली

वर्तते। तत्र राष्ट्रस्य कल्याणस्य भावपूर्णाः प्रार्थनाः कृताः सन्ति। यजुर्वेदे ऋषिणा गीयते – **आ ब्रह्मन् ब्रह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्**[3] वैदिकसाहित्यस्यातिरिक्तं पुराणेष्वपि राष्ट्रियतायाः भावनाः विशदरूपेण दृश्यन्ते। विष्णुपुराणस्य श्लोकमिमं गायं गायं भारतवासिनः अद्यापि भावविभोरा भवन्ति। यथा-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य फलार्जनाय ,भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥[4]

संस्कृतसाहित्यस्य प्रसिद्धकवेः कालिदासस्य रचनास्वपि राष्ट्रियभावनायाः दर्शनं भवति। कुमारसंभवस्य प्रारंभे एव कविः कथयति-

अस्त्युतरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥[5]

अर्वाचीनकविभिः पं. गिरिजाशङ्करमिश्रैः राष्ट्रगौरव- गुम्फितं भारतभक्तिभावनायाः प्रचण्डसञ्चारकं वीरकाव्यं प्रसन्नभारतं विरचितम्। अस्मिन् महाकाव्ये भारतस्य मेधायाः, पौरुषस्य च महिमा वर्णिता। तेषां त्यागस्य शौर्यस्य च लोमहर्षिणी यशोगाथा वर्णिताः वर्तते। अस्मिन् स्वसंस्कृतिरक्षाव्रतमस्ति धर्मयुद्धस्य शंखनादोऽस्ति अन्यदस्ति आर्षजीवनस्य सजीवाच्छविः।

प्रसन्नभारते एकतो महाप्रज्ञः चाणक्यः अन्यतश्च
विश्वविजयाय समुद्यतो यूनानवास्तव्यः सिकन्दरो वर्णितः।
एकस्मिन् त्यागतपोमयी स्वस्य राष्ट्रस्य हिताय तितिक्षा
अन्यत्र सर्वस्वहरणोद्यमो विश्वविजयाय आकांक्षा अस्ति।

पं गिरिजाशंकरमिश्रः प्रसन्नभारतस्य प्रथमे सर्गे राष्ट्रियचेतनाविषये विनम्रतापूर्वकं लिखति-

देशव्रतप्रणनिजार्पितजीवनानां संग्रन्थितुं गुणगणान् वचसामगम्यान्।
अप्युद्यताय लिपिबोधविवर्जिताय मह्यं नमः कुकवये निरपत्रपाय॥[6]

द्विजानां जीवनस्य उद्देश्यं प्रति कविः लिखति-

न क्षत्रकामाय न शासनाय, न सुखोपभोगाय न विप्रसृष्टिः।
सृष्टिर्विधात्रा विहिता द्विजस्य मनुष्यतादर्शनिदर्शनाय ॥[7]

चाणक्यस्य जन्म अपि राष्ट्रस्य एकीकरणाय दुष्ट-नन्दवंशस्य संहाराय च अभवत् इति। बाल्यकालादेव चाणक्यः प्रतिभाशाली आसीत्। तस्य शिक्षा विश्वस्य प्रथमविश्वविद्यालये तक्षशिलायां सञ्जाता। महाकाव्यस्य चतुर्थे सर्गे भारतदेशस्य वैभवं वर्णितं वर्तते। यूनानदेशीयः सिकन्दरोऽपि भारतस्य प्रशंसायां कथयति-

महीतले स्वर्णपतत्रिसंज्ञकं स्ववैभवैरकल्पितकल्पपादपम्।
कुबेरलक्ष्मीतुलनैव लालसं महाधनाढ्यं भुवि भाति भारतम्॥[8]

सिकन्दरस्य भारते प्रवेशवार्तामाकर्ण्य आचार्यचाणक्यः बहु चिन्तित भवति। चाणक्यः

सिकन्दरवृतान्तज्ञानाय शिक्षणकार्यं परित्यज्य तक्षशिलां प्रति प्रस्थितवान्। गच्छन् स वने एकां वैश्यकुटिं प्राप्य वैश्यस्य दुर्गतिव्यथां श्रुत्वा नितरां कुपितो जातः। वैश्यं सान्त्वयन् आत्मानं धिक्करोति सः-

तस्यात्मा हृदि धिक्करोति शृणु रे चाणक्य देशव्रतिन्
त्वय्यक्षीणकलेवरे श्वसिति चेत त्वज्जन्मभूमेरियम्।
दुर्दश्या बत दुर्गतिर्भवति हा सर्वस्व संहारिणी
त्वत्तस्तर्हि वरं सुरक्षितगृहो भो भो स्वैः स्वैर्भुवि।।[9]

सिकन्दरस्य गुरुणा अरस्तूना भारतराष्ट्रस्य गौरवगाथाः प्राकृतिकसुषमां वीराणां शौर्यं ब्राह्मणानां विद्वत्ता च सिकन्दरस्य पार्श्वे प्रतिपादिता आसन्।

अतः सः भारतम् आगत्य सर्वप्रथमं मुनि-मनीषिणां ब्राह्मणानाम् अन्वेषणे स्वानुचरान् नियोजयति। कल्याणनाम्नः ब्राह्मणः ससम्मानं सभायामानीतः। सिकन्दरः स्वमनोरथसाफल्यार्थ कल्याणब्राह्मणाद् आशीर्वादं याचते। समुत्तरयन् स कल्याण ब्राह्मणः अस्मिन् विषये कथयति-

ये केवलं ददति राष्ट्रहिताय सर्वं गृद्लन्ति नाणुमपि ये स्वहिताय तस्मात्।
जीवोपकारनिरताः समदृष्टयो ये ते ब्राह्मणत्वमुपयान्ति जगत्प्रतीक्ष्यम्॥[10]

भारतीयाः उदारचरित्रजनाः भवन्ति। भारतीयानां कृते सम्पूर्णा धरा एव कुटुम्बं भवति। अतएव नीतिवाक्येषु कथितम्-

अयं निजः परोवेति गणनालघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥[11]

एषा भावना व्यक्ता भवति प्रसन्नभारते महाकाव्येऽपि –

को वापरोऽस्ति पुरुषो जगतीह तेषां यद्घोष एव वसुधैव कुटुम्बकं मे।
आसेतुशीतगिरिवर्त्तिजनानशेषान् नात्मेतराननुभवन्ति सुधीश्वरास्ते॥[12]

कल्याणद्वारा कविः भारतस्य गौरवं महत्वं च वर्णयति। भारतीयजनाः भारतभूमिं मातासदृशं मन्यन्ते। अतएव उक्तं- जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।[13] भारतीयाः मातृभूमेः रक्षणाय स्वजीवनमपि अर्पयन्ति। अत्रत्या जनाः पृथिव्यां किमपि कष्टं सोढुं शक्नुवन्ति किन्तु अनार्यदुष्टप्रकृतिजनानां पराधी तु कदापितां नैव स्वीकुर्वन्ति-

आर्या वयं भारतभूमिपुत्राः स्वातन्त्र्यनिष्ठा भूवि संस्तुता नः।
सहामहे सर्वमपीह लोके कस्याप्यनार्यस्य न किन्तु दास्यम्॥[14]

अनन्तरं कविः भारतस्य जनानां स्वाधीनताविषये वर्णयन् कथयति यत् समुद्रः कदाचित्स्वसीमां त्यजेत्, सुमेरुपर्वतः स्वतुङ्गतां जह्यात्, सूर्यः कदाचित् निजतीव्रतेजः त्यजेत्, किन्तु भारतीयाः वीरभट्टाः कदापि स्वाधीनतां न परित्यजन्ति-

सीमां त्यजेत् क्षीरनिधिः कदाचित् प्रोतुङ्गतां मेरुगिरिश्च जह्यात्।
त्यजेत्खरांशुर्निजतीव्रतेजः स्वाधीनतां नार्यजनास्त्यजन्ति॥[15]

भारतीयमातरः वीरपुत्रप्रसविन्यः भवन्ति। सा बाल्यकाले एव शिशुं मातृभूमेः रक्षायै शिक्षयति-

स्मरामि माता शिशुदोलिकायां सुशिक्षितोऽहं शिशुगीतवाक्यैः।
प्राणाः प्रदेयाः सुत! किन्तु नैव स्वजन्मभूधूलि कणोऽपि देयः॥[16]

राजनीतिज्ञविद्वत्सु अग्रगण्यः चाणक्यः भारतराष्ट्रस्य दुर्दशां दृष्ट्वा नितरां खिन्नो जातः। तेन तक्षशिला-विश्वविद्यालये सभामेकामाहूय बटुकानां समक्षं राष्ट्रस्य दुर्गतिमुल्लिख्य सिकन्दरस्य समूलंनाशाय जनजागरणाय च कृते नवयुवकैः सह संकल्पः कृतः -

दुःस्थितिं भरतभूमनुजानाम् आर्यधर्मसमुदीर्णविनाशम्।
वर्णयन् स नृपनीतिपुरोधा निश्चिकाय जनजागरणाय॥[17]

चाणक्यस्य उद्बोधनेन, छात्राः उत्साहिताः। ते शत्रून् प्रति प्रतिकारसङ्कल्पे सन्नध्दाः दृश्यन्ते-

देवोपमे राष्ट्रसमर्च्य देहे कुदृष्टयो यैश्च निपातिता मे।
यावन्न तच्चक्षुरहं भिनद्मि भारतस्तु तावत् वत सिकन्दरस्य।।[18]

आक्रमणप्रतिक्रियायां जीवितं मे भारतीयमिति गर्वोक्तिः द्रष्टव्या वर्त्तते

जननी सुतं प्रसन्ना भगिनी भ्रातृन पतिप्रियं जाया।
प्रेषितवती सगर्वं रक्षार्थं पृष्ठदेशस्य।।[19]

युद्धकर्तुं गमनाय सज्जयुवकं माता वदति यत्-

जननी जगाद् पुत्रं दुग्धैः रक्तोद्भवैः, सुपुष्टोऽसि।
याचे वत्स जनन्या मुखमुज्ज्वलमद्य कुर्यास्त्वम्॥[20]

काचित् ग्रामवधूः मङ्गलतिलकार्थमक्षतान् कनकस्थाल्यां धृत्वा तिलकं ददती ब्रूते स्वामिन् तथा विधेयं भवता-

स्वामिन् तथा विधेयं भवता प्रधने मया हि मे प्रेष्ठा।
भारतविजयनिनादश्रवणसमीहा भवेत्पूर्णा।।[21]

काचित् वधूः आलिङ्गनं कृत्वा स्वपतिं कथयति -

इत्थं रणं करिष्यसि येनाहं लज्जिता न स्याम्।[22]

ऐतिहासिकपुस्तकेषु वर्णितमस्ति यत् पुरु-सिकन्दरयुद्धे पुरुः पराजित आसीत्। परमेतत् तथ्यं विवादात्परो वर्तते । यतोहि आधुनिकगवेषकाः, ऐतिहासिकप्रमाणाऽऽधारेण पुरुः सिकन्दरात् पराजितः इति न स्वीकुर्वन्ति-

युद्धेऽस्मिन् स पुरुः पराजितः इति प्रायो दरीदृश्यते।
ऐतिह्याखिलपुस्तकेषु न हि तत्तथ्यं विवादात्परम्॥[23]

काले साम्प्रतिके तु शोधनिरतैरैतिह्य विद्वद्भिः बुधैः नैतत्स्वीक्रियते। गवेषणादस्माल्लब्धैः प्रमाणैरैव सिकन्दरः सैल्यूकसद्वारा ज्ञातवान् यत् भारतीयाः विप्राः शास्त्रे शस्त्रे च लब्धप्रतिष्ठाः आसन्। ते आर्यावर्तस्य रक्षा विषये वदन्ति -

शिरः कर्तयाङ्गानि मे छिन्धि भिन्धि कुटुम्बं निवासं च सर्वं दह त्वम्।
तथाप्यार्यभूमेः कणस्यापि रक्षां करिष्ये करिष्ये करिष्ये करिष्ये॥[25]

प्रसन्नभारतस्य पञ्चदशे सर्गे वर्णितं यत् सैल्यूकसः आर्यावर्तं विजेतुमैच्छत्। तेन भारतीयानां सेना दृष्टा, किन्तु तस्य योजना, तस्यैव विरुद्धा सिद्धा, परतः चन्द्रगुप्तेन स्वसैनिकाः समुत्साहिताः, सैल्युकसो बद्धः।

मेगास्थनीजनाम्नः सचिवेन समं चिरं विचार्य चन्द्रगुप्तेन सह संधिं कर्तुं जिज्ञासां प्रकटयत्। चाणक्येन सन्धिपत्रं विलख्य अन्योन्यं सहयोगम् अवाप्तुं पाणिग्रहणवार्ताऽपि विहिता। ततस्तेन सैल्युकसस्य पुत्री कार्नेलियायाः चन्द्रगुप्ते न सह विवाहप्रस्तावः कृतः। तेन स्वकन्या प्रदत्ता। पुनः भारतं 'प्रसन्नभारतम्' जातम्। कविः धीर्धनं चाणक्यं नमन् महाराज्यं नमति-

अन्यर्थनीतिशास्त्रं तं चाणक्यं नौमि धीर्धनम्।
प्रसन्नभारतं जातं भारतं यन्नयाश्रया॥
याचे च्युतिविहन्तारं प्रार्थितप्रदमच्युतम्।
कुर्यात् स मामकं राष्ट्रं समर्थं गुरुगौरवम्॥[26]

साम्प्रतिके युगे आर्याणां महान् देशो भारतं शत्रुभिराक्रान्तो वर्तेते। अद्यापि कस्यचिच्चाणक्यस्य समुदयोऽपेक्ष्यत इत्यस्य रचनायाः गूढव्यङ्ग्यपरिलक्षितं प्रासङ्गितत्वमपि सिद्धमेव। आ काश्मीरां कन्याकुमारीपर्यन्तं राष्ट्रमखण्डस्यैकस्य च भारतस्य स्वरूपं कथमपि शिथिलं विपन्नं वा न भवेदिति भारतवास्तव्यैः सर्वैरपि जातिवर्णादिभेदरहितैः मिलितैः सद्भिर्विचारणीयम्। महाकाव्येऽस्मिन् वैदेशिकबर्बरसप्रयत्नसम्बाधाऽच्छन्ने भारताकाशे प्रज्ञावतारस्य आचार्यचाणक्यस्य बौद्धिकनेतृत्वे राष्ट्ररक्षादीक्षितेन चन्द्रगुप्तेन बलाद् शत्रून विजित्य भारतस्य सीमाः काबुल-हेरात्-कान्धार-माकरानपर्यन्तं प्रापिताः। भारतस्वरूपं बृहत्तरं निःसपत्नं निरुपद्रव च निर्मितम् । सर्वे सर्वसुखसम्पन्नाः प्रसन्नाः चाभवन् । भारतमिदं तदाऽभवत् तादृशं यादृशं भूतो न भविष्यन्ति।

सन्दर्भाः

1. प्रसन्नभारतस्य प्रशंसायाम् ।
2. अथर्व- 12/1/12
3. यजु.- २२/२२
4. विष्णुपुराण- 2/3
5. कुमारसंभव १/१
6. तदेव 1/6
7. तत्रैव 1/14
8. प्रसन्नभारतम् -4/7
9. तदेव 4/59
१०. तदेव ५/२७
११. नीतिग्रन्थः
१२. प्रसन्नभारतम् - ५/६
१*. महोपनिषद्-
१५. प्रसन्नभारतम् -६/५२
१६. तदेव-६/५६
17. तदेव-6/58
18. प्रसन्नभारतम् 8/27
19. तदेव 9/58
20. तदेव 10/22
21. प्रसन्नभारतम् 8/15
22. तदेव 8/19
23. प्रसन्नभारतम् 8/27
24. तदेव 9/58
25. तदेव 10/22
26. प्रसन्नभारतम् - 15/74
27. तदेव -15/75

चन्द्रशेखरसिंहसामन्तस्य साहित्यं तथा तत्र भक्तितत्त्वम्

· डॉ. भारतभूषणरथः*

शोधसारः

भारतीयज्योतिषे चन्द्रशेखरसिंहसामन्तमहोदयस्य स्वतन्त्रं स्थानम्। तदानीन्तन ब्रिटिशसर्वकारः चन्द्रशेखरसिंहसामन्तस्य महाकाशगवेषणया प्रभावितः सन् तस्मै महामहोपाध्यायः इति उपाधिं प्रदत्तवान्। तस्य गवेषणायाः अमूल्यं रत्नं भवति साम्प्रतं परिदृश्यमानः सिद्धान्तदर्पणग्रन्थः। वहुवैशिष्ट्यविमण्डितोऽयं ग्रन्थः। अपि च ग्रन्थस्य मङ्गलपद्यमारभ्य अन्तिमं यावत् भगवतः श्रीकृष्णस्य कृते समर्पणभावनावशाद् अयं ग्रन्थः जनेषु भक्तिभावं जनयति। अतः दर्शनशास्त्रमपि ग्रन्थस्यास्य आधारविषयः। ग्रन्थकर्ता चन्द्रशेखरसिंहसामन्तमहोदयः एकाधारेण कविः, ज्यौतिष्शास्त्रविशारदः, महान् वैयाकरणः दार्शनिकश्चास्ति। विशेषतया भगवतः श्रीकृष्णस्य परमो भक्तः अस्ति कविः। कविः ओडिशाप्रदेशे जन्म लब्धवान्। ओडिशाराज्यस्य प्रमुखदेवता महाप्रभुः श्रीजगन्नाथः। स एव जगन्नाथः कृष्णस्वरूपः इति शास्त्रप्रमाणम्। अतः कविः तस्य जीवनं पुरुषोत्तमक्षेत्राधिनाथं श्रीजगन्नाथं सभक्तिकं समर्पयति। ग्रन्थे अभिवर्णितं भक्तितत्त्वं शोधपत्रेऽस्मिन् पर्यालोच्यते।

बीजशब्दाः सिद्धांतदर्पणः, चंद्रशेखरसिंहसामन्तः, पुरुषोत्तमः, श्रीजगन्नाथः, श्रीकृष्णः, ज्योतिषं, दर्शनं, साहित्यम्।

चन्द्रशेखरसिंहसामन्तमहोदयस्य परिचयः –

सिद्धान्तदर्पणस्य रचनाकारस्य चन्द्रशेखरसिंहसामन्तमहोदयस्य जन्म तदानीन्तन उत्कलप्रदेशस्य तथा साम्प्रतं ओडिशाप्रदेशस्य खण्डपडाजनपदे अभवत्। खण्डपडाराजवंशस्य सप्तमराजा आसीत् नृसिंहभ्रमरवरः। तस्य षड् पुत्राः आसन्। ते पुत्राः भवन्ति - 1. पुरुषोत्तमः, 2. जगन्नाथः, 3. हरिहरः, 4. रघुनाथः, 5. कमललोचनः, 6. श्यामबन्धुश्चेति। अन्तिमपुत्रस्य श्रीश्यामबन्धोः पुत्रः भवति सामन्तचन्द्रशेखरः। चन्द्रशेखरस्य मातुः नाम विष्णुमालिदेवी। चन्द्रशेखरमहोदयस्य जन्म पञ्चत्रिंशदुत्तराष्टादशततमे(1835) ख्रिष्टाब्दे (पौषकृष्णाष्टमीतिथौ) डिसेम्बरमासस्य चतुर्विंशतितमे(24) दिनाङ्के जातः। महोदयस्य जनकः श्रीश्यामबन्धुमहोदयः परमवैष्णवः, संस्कृतकाव्यालङ्कारस्मृतिशास्त्रकलाविज्ञानादिषु पारङ्गतः, विशिष्टगुणसम्पन्नः व्यक्तित्वशाली चासीत्।

*सहाचार्यः, साहित्यविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः – तिरुपतिः, आ.प्र

जननी च धराकोटमहाराजस्य भ्रातुः पद्मनाभसिंहस्य पुत्री विष्णुमाली पतिव्रताधर्मपरायणा सदाचारयुक्ता चासीत्। सिद्धान्तदर्पणे तस्य वंशपरिचयः यथा –

क्षत्राधिश्रीवघेलान्वयपय उदधिप्रोद्यतापूर्णपन्द्रा-
ज्योतिः सन्धानसिन्धुस्तत उदयमगच्छत्बुधः श्यामबन्धुः।
स्वान्तोद्यद्दीनबन्धुप्रपदनखमहः संहृताहस्तमिस्त्रः
श्रीमान् सिंहान्तनामोत्कल निलयभरद्वाजगोत्राब्जमित्रः॥
तज्मः श्रीमधुसूदनाभिधमहापात्रोद्गुरोदीक्षितो
विद्यामुद्यतखड्गरायसुपदादानन्दमिश्राद्गतः।
सोऽहं ब्रहगिरीशमाधवपदावासः स्वधर्माधमः
सिद्धान्तग्रथनं चकार यदिदं स्यात्कृष्णपादार्पितम्॥ [1]

चन्द्रशेखरस्य नाम्नः पूर्वं सामन्त इति विशेषणः वर्तते। तस्य कारणं भवति तदानीं राजपरिवारसदस्यानां कृते सामन्त परिवारसदस्यः इति व्यवहारः आसीत्। अतः तदाधारेण अस्य नाम चन्द्रशेखरसिंहसामन्तः इति व्यवहारः। अस्य अपरं विशिष्टं तथा लोकप्रसिद्धं नाम भवति "पठाणिसामन्तः"।

कवेः प्रसिद्धिः-

1868 ख्रिष्टाब्दे अगष्टाष्टादशतमे दिनाङ्के तेन प्रतिपादितं सूर्यग्रहणं समीचीनसमये जातम्। अतः तदानीन्तन राजा पर्यवेक्षणं कृत्वा 1870 ख्रिष्टाब्दे तं "हरिचन्दनमहापात्र" इति उपाधिना भूषितवान्। ततः सूर्यचन्द्रयोः ग्रहणमानं साक्षात्समये दृष्टिगोचरमायाति इति प्रमाणं दृष्ट्वा तात्कालिकब्रिटिशसर्वकारेण "महामहोपाध्याय" इति उपाधिना 1893 ख्रिष्टाब्दस्य सेप्टेम्बरमासस्य अष्टाविंशति(28) दिनाङ्के भूषितः। राधानाथरायमतानुसारं "भारतस्य द्वितीय भास्कर" इति नाम्ना ख्यातः पठाणिसामन्तः। उत्कलभाषायां कविवरराधानाथरायेण उत्कलभाषया प्रशंसितं यत्-

जाणे मुँ न थिल सम्मान आशायी सन्मान तुम्भङ्कु बरिनेला याइ।
तुम्भ मुख्य कर्म तप आचरिवा दुनिआरे जशो जाए आसे किवा॥

1899 ख्रिष्टाब्दे Indian Depository Publication कलिकातातः "सिद्धान्तदर्पणग्रन्थस्य" प्रथमप्रकाशनकार्यम् अभवत्। अग्रे नैचरनोलेजप्रभृतिषु विश्वप्रसिद्धविज्ञानपत्रपत्रिकासु सिद्धान्तदर्पणग्रन्थस्य सामन्तकृतशोधकार्यस्य च बहु प्रशंसा जाता।

कवेः कृतयः तथा विरचितग्रन्थाः-

1. सिद्धान्तदर्पणः(मूलग्रन्थः)
2. दर्पणसारः (लघुग्रन्थः उत्कलभाषायाम्)
3. दर्शदीपिका (षोडशश्लोकात्मकः संस्कृतग्रन्थः)

सिद्धान्तदर्पणग्रन्थस्य परिचयः-

श्रीचन्द्रशेखरसिंहसामन्तमहोदयानां दीर्घकालप्रयासस्य प्रसूतिः सिद्धान्तदर्पणग्रन्थोऽयम्।

भारतीयखगोलविज्ञानस्य समालोचनात्मकं समीक्षात्मकञ्चाध्ययनार्थम् अयं ग्रन्थः वैशिष्ट्यं धरति। ग्रन्थपरिचयविषये ग्रन्थकारेण एवं भणितम्-

पूर्वार्द्धे कालमाहर्गणभगणखगज्यादिविस्पष्टतेषु
त्रिप्रश्नप्रग्रहोडुग्रहसमिदुदयास्तेन्दु श्रृङ्गोतिपाताम्।
अन्त्ये भाग्योऽनुयोगोत्तरविविधमतव्यक्तिसृष्टचन्तगोल-
क्षमाकक्षायन्त्रवर्षाच्युतनुति कुतुकान्यत्र पश्यन्तु सन्तः॥[2]

अत्र ग्रन्थे पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धौ इति द्वौ भागौ भवतः। पूर्वार्द्धे कालपरिमाणम्, अहर्गणानयनम्, ग्रहभगणमानम्, ग्रहाणयनम्, ज्योकोटिज्यादिसाधनम्, स्पष्टशरानयनम्, त्रिप्रश्नानां समाधानम्, ग्रहणसाधनम्, ग्रहयुतिः, नक्षत्रयुतिः, उदयास्तानयनम्, चन्द्रशृङ्गोन्नतिः, पातादिसाधनञ्च प्रतिपादितम्।

उत्तरार्धे विभिन्नप्रश्नाः, नानामतानां चर्चा, सृष्ट्योत्पत्तिः, पृथिव्यादिपुण्डानां कक्षामानम्, गोलादियन्त्रनिर्माणप्रक्रिया, जगन्नाथस्तुतिः, कौतुकपञ्चाङ्गञ्च वर्णितम्। तथा ग्रन्थेऽस्मिन् पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धस्थाः विषयाः मध्यमाधिकारः-स्फुटाधिकार-त्रिप्रश्नाधिकार-गोलाधिकर-कालाधिकारश्चेति साङ्गोपाङ्गेन सहिताः पञ्चाधिकाराः सन्तिः। ते एव पञ्चाधिकारस्थविषयाः चतुर्विंशतिप्रकाशेषु सन्निवेष्टिताः सन्ति इति ग्रन्थकारैः सामन्तमहोदयैः प्रतिपाद्यते। तदाह-

ग्रन्थेऽस्मिन्नधिकारपञ्चकमहं वक्ष्यामि मध्यस्फुट-
त्रिप्रश्नाततिगोलकालसहितं साङ्गं स्ववक्त्रोद्गतैः।[3]

सिद्धान्तदर्पणग्रन्थस्य वैशिष्ट्यम्-

चन्द्रशेखरसिंहसामन्तविरचितः सिद्धान्तदर्पणनामको ग्रन्थः सिद्धान्तपरम्परायां प्रायः अन्तिमः सिद्धाग्रन्थः। महोदयः ब्रह्मगुप्तेन, वराहमिहिरेण, भास्कराचार्येण च विशेषरूपेण प्रभावित आसीत्। भास्कराचार्यस्य सिद्धान्तशिरोमणिग्रन्थाधारेणैव तेन सिद्धान्तदर्पणस्य रचना कृता। प्रायशः नूतनग्रन्थेषु साधितानां ग्रहणादीनां स्वल्पान्तरप्रभेदः दृश्यते इति स्वीक्रियते। परमति-प्रभेदः यदि स्यात्तर्हि ग्रन्थोपयोगी न भवतीति पूर्वाचार्याणां मतम्। किञ्च ग्रन्थेऽस्मिन् तादृशदोषाः न सन्ति। अत्र प्रतिपादितगणितसूत्राणि दीर्घकालोपयोगीनि भविष्यन्ति इति। सहसा तदपि तेन प्रतिपादितम्। यथा-

तत्र ग्रन्थेषु यस्मिन्न भवति सुमहत्तारतम्यं ग्रहादे
दृक्संवादात् सतथ्यौ बहुतरतमतः कथ्यतेऽसावतथ्यः।

पूर्वाचार्येस्तदस्मद्ग्रन्थनमपि चिरस्थायि दृक्सिद्धभावा-

द्रव्यर्थं भव्यसेव्यं भवति हि भविनो भाविभूतानभज्ञाः॥[4]

सामन्तमहाभागाः इतरेषां सिद्धान्तग्रन्थानां पर्यालोचनेन दृष्टवन्तः यत् तत्र प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाश्च सिद्धान्ताः राजन्ते। ते प्रत्यक्षसिद्धान्तान् स्वीकृत्य अप्रत्यक्षसिद्धान्तानाम् आलोचनां कृत्वा युक्तिभिः तेषाम् अनुपयोगिनां प्रतिपादनपूर्वकं त्यक्तवन्तः। उक्तं यत्-

दृष्ट्वा दृष्टिविरुद्धमन्यगणितं त्राणायधर्मस्य वा
भ्रान्तिं तथ्यतया भुवः प्रवदतां वाग् भंगिङ्गयवा।[5]

ग्रन्थेऽस्मिन् सामन्तमहोदस्य विलक्षणमतिः दरीदृश्यते। वस्तुतः जगन्नाधादिदेवानां स्तुतयः, स्थूलपञ्चाङ्गसाधनम्, सूक्ष्मपञ्चाङ्गसाधनम्, कौतुकपञ्चाङ्गम्, ध्रुवकादिसारण्यः, प्रकाशान्ते च मङ्गलाचरणम्, यथोपयोगितानुगुणम् इतरग्रन्थानां श्लोकानां प्रतिपादनम्, देशाभिप्रायिकग्रहाणां गतयश्च अस्य ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयन्ति।

"शास्त्रे कृते यदि जगद्व्यवहार हेतौ गम्भीरता भवति तन्निखिलप्रवृत्तिः।
न स्यादतोऽत्र गणिते सुगमाभिधेये शब्दस्य पाटवमनादरणीयमेव॥"[6]

सिद्धान्तदर्पणस्य साहित्यिकं वैशिष्ट्यम् –

सिद्धान्तदर्पणः यद्यपि ज्यौतिषशास्त्रस्य ग्रन्थः तथापि साहित्यमाध्यमेन एव प्रकाशितः। वस्तुतः समाजे प्रत्येकमपि लिखितं तथ्यं साहित्यमेव। यतः शब्दार्थयोः भावः यदि अस्ति तत् साहित्यम्। तदनुसारं सिद्धान्तदर्पणे ज्यौतिषशास्त्रस्य तत्त्वमुपनिबद्धमस्ति। अतः अयं ग्रन्थः साहित्यस्य कलेवरं धारयति। अपि च ग्रन्थस्य वर्णनं श्लोकाकारेण अस्ति। विविधछन्दसां प्रयोगपूर्वकं कविः सिद्धान्तदर्पणं विरचितवान्। तत्र गुणालङ्काराणां च प्रयोगः पदे पदे शोभते। ग्रन्थपठनेन ज्ञायते अयं कविः पुरुषोत्तमक्षेत्राधिपतेः श्रीजगन्नाथस्य परमो भक्तः। अतः अस्य ग्रन्थे जगन्नाथस्तुतिपरकं पद्यं बहुधा वर्तते। यत्र भक्तिरसः शान्तरसश्च प्रामुख्यं भजतः। विशेषतया कविः ब्रह्माद्रीपर्वताधिष्ठितस्य श्रीनीलमाधवस्य कृपया सिद्धान्तदर्पणग्रन्थं विरचितवान् इति स्वयमेव लिखति। ग्रन्थारम्भे एवं एकेन पायेन कविः स्व परिचयेन सह भक्तिभावमपि स्पष्टयति।

तत्त पद्ये कविः स्पष्टयति यद् सः श्यामबन्धोः पुत्रः। पण्डितः मधुसुदनमहापात्रः तस्य दीक्षागुरुः। आनन्दमिश्रखडङ्गा तस्य शिक्षागुरुः। ब्रह्माद्रीपर्वते अधिष्ठितः माधवः तस्य उपास्य देवः। (यः माधवः खण्डपडासमीपे कण्टिलो इति स्थाने पूजितः)। एवम् अयं सिद्धान्तदर्पणः ग्रन्थः तस्य एव श्रीनीलमाधवस्य कृते समर्पितः यः साक्षात् श्रीकृष्णः।

मङ्गलाचरणवैशिष्ट्यम्-

महाभाष्यवचनानुसारं प्रारम्भिककार्यस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिनिमित्तं गुरुशिष्यपरम्परायाः मङ्गलकामनायै ग्रन्थारम्भे मङ्गलश्लोकस्यावतारणा क्रियते। यथा- "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्ति आयुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च मङ्गलयुक्ताः यथा स्युः"। (महाभाष्यम्)

मङ्गलश्लोकः कदाचित् ग्रन्थारम्भे-ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते वा भवति। अत्र आशीर्वादनमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्(दण्डी) इति आचार्यदण्डिना सूचितं भवति। वस्तुतः दण्डिना उक्तं मङ्गलाचरणलक्षणमिदं विज्ञाय अत्र सिद्धान्तदर्पणकारेण सामन्तमहोदयेन ग्रन्थादौ तथा प्रत्येकमपिप्रकाशस्य अन्ते मङ्गलपदं विरचितम्। सामन्तचन्द्रशेखरः साहित्यशास्त्रेऽपि निपुणः आसीत्। अतः तस्य अयं ग्रन्थः न तु केवलं ज्यौतिषशास्त्रस्य प्रतिनिधित्वं करोति अपि च साहित्यशास्त्रस्यापि प्रतिनिधित्वं करोति। तत्र ग्रन्थादौ परब्रह्मस्वरूपं नीलाद्रीनाथ-पुरुषोत्तम- श्रीजगन्नाथं कविः स्तौति। ग्रन्थस्यास्य निर्विघ्नपरिसमापनार्थं स्थाने स्थाने नीलाचलमौलिभूतं जगन्नाथमभिवन्दति कविः। अपि च परमाराध्याय

लक्ष्मी-भूदेवी-श्रीदेवी-माधव-सुदर्शन-नारायण-बलभद्र-सुभदादिदेवानां तेजस्वरूपस्य अभिवर्णनमपि वर्तेत। तत्र प्रथमं मङ्गलपद्यं यथा –

श्रीभूमाधवचक्रचक्र्यवनिभृत्तद्राभिरभ्युज्जवलं
श्रीकण्ठप्रमुखाखिलामरशिखा जुष्टांघ्रिपीठोपलम्।
श्रीनीलाचलमौलिमण्डलमहानीलायमानं महः
श्रीभूमाधरितस्मरं भवतु नः प्रत्यूहहत्युद्यतम्।।[8]

अत्र ग्रन्थादौ नीलाचलनाथस्य श्रीजगन्नाथस्य मङ्गलाचरणं कृतमस्ति कविना। एतेन आधारेण तेषामाराध्यदेवः श्रीजगन्नाथः इति ज्ञायते। श्रीजगन्नाथः साक्षात् परब्रह्म। स एव कृष्णः। स एव विश्वनियामकः। कविः तं कृष्णम् अभिवन्दति यथा -

गांगेयद्युतिभंगदांगलतया श्रीराधयलिं गितम्
विद्युत्सांगिघना घना घनापघनरुक् प्रेमामृतै का श्रयम्।
सत्संवित्सुखम क्षर क्षरपरं पूर्णाति पूर्णोत्तमम्
श्रीकृष्णाख्यमुपास्महे सुरुचिरं वेदान्तं वेद्यं महः।।[9]

अयं ग्रन्थः ज्यौतिषशास्त्राधारितग्रन्थः। तत्र नक्षत्रराजः भवति सूर्यः। ज्योतिषशास्त्रस्य अयमारम्भः सूर्यादेव। अतः तं भास्करं ग्रन्थादौ स्तौति कविः। तद् यथा -

"श्रीभास्करप्रभृतिखेचरचक्रवालं नत्वा गुरुं स्वपितरौ तदनुग्रहाढ्यः।
गूढोऽप्यगाढगणकप्रतिपत्तयेऽहं सिद्धान्तदर्पण इति प्रथयामि शास्त्रम्।"[10]

सामन्तमहाभागस्य सर्वेष्वपि मङ्गलश्लोकेषु प्रायः नमस्कारात्मकं वर्णनम् अस्ति। कुत्रचित् वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गलश्लोकाः प्रतिप्रकाशन्ते परन्तु नमस्कारे आत्मसमर्पणे च कवेः प्राधान्यम्। ऐश्वरीयभक्तिभावस्य महानतायाः वर्णनं कृत्वा कविः समाजं शान्तेः मार्गं प्रदर्शयितुमिच्छति।

1968 ख्रीष्टाब्दे सिद्धान्तदर्पणस्य पाण्डुलिपिः भारतसर्वकारेण उच्चप्रशंसिता स्वीकृतिप्राप्ता च । 1975 ख्रीष्टाब्दे हनुमानशास्त्रिणा कृतः उत्कलभाषायां पुस्तकस्यानुवादः अधुना सर्वपुरातनमिति अनुमीयते। षड्नवत्त्यधिकनवदशशत (1996) ख्रीष्टाब्दे अरुणकुमारउपाध्यायेन कृता ग्रन्थस्यास्य हिन्दीटीका एवम् अनन्तरं अष्टनवत्यधिकनवदशशत (1998) ख्रीष्टाब्दे कृता आङ्गलटीकाऽपि लभ्यते।

सिद्धान्तदर्पणः प्रमुखतः एकः ज्योतिषशास्त्रसम्बन्धग्रन्थः। अत्र अन्तरिक्षजगतः तत्त्वं सप्रमाणमभिवर्णितमस्ति। अतः वैज्ञानिकानां कृते अयं ग्रन्थः परमोपकारकः। विशेषतया ये वैज्ञानिकाः अन्तरीक्षजगतः अनुसन्धाने रताः तेषां कृते अयं ग्रन्थः उपादेयः। अतः ओडिशाराजधान्यां भुवनेश्वरे पठाणिसामन्तप्लानेटोरियम् इति विज्ञानागारः वर्तते यत्र अस्य विदुषः गवेषणाविषयकं तत्त्वं ज्ञातुं शक्यते। एवमेव अस्य जन्मस्थाने खण्डपडानगरे संग्रहागारः अस्य नाम्ना अस्ति। यत्र सिद्धान्तदर्पणस्य विविध गवेषकात्मकविषयाणाम् अनुसन्धानं चलति। ग्रन्थस्यास्य आङ्ग्लानुवादः बहुधा जातः। येन आविश्वं ग्रन्थोऽयं प्रसारितः। मूलग्रन्थः संस्कृतभाषया अस्ति इतिहेतोः संस्कृतज्ञानां महान् आदरः ग्रन्थेऽस्मिन्। तत्रापि

विशेषतया सरससुन्दरपद्यरुपेण अस्य रचना ग्रन्थस्य गुरुत्वमभिवर्द्धयति। विविधछन्दगुणरसरीतिअलङ्काराणां ञ्च प्रयोगवशाद् ग्रन्थस्य महत्वं वर्द्धते एव। अत्र भक्तिरसस्य या धारा सा अवश्यम् अनुकरणीया। विशेषतया शब्दार्थयोः प्रयोगे कवेः वैशिष्ट्यं विदुषां मनो हरति।

एतस्मिन् प्रसङ्गे जयदेवप्रणीतस्य गीतगोविन्दस्य महान् प्रभावः परिलक्षते। श्रीजयदेवः स्वगीतगोविन्दे यथा भगवन्तं स्तौति तथैव अत्रापि सिद्धान्तदर्पणे कविः स्वाभीष्टदेवं जगन्नाथं स्तौति।

कवेः अन्तिमसमयः-

यौवनावस्थायां रात्रौ दीर्घकालावधियावज्जागरणात् सामन्तमहोदयस्य शरीरम् अस्वस्थं जातम्। रोगः तथा चार्थाभावः तस्य जीवनस्य परमं दुःखम् । संसारसुखात् ते सर्वथा वञ्चिताः। अन्तिमे श्रीनीलाद्रिनाथजगन्नाथस्य चरणकमले श्रीक्षेत्रे एव 1904 ख्रीष्टाब्दे जुन् मासस्य एकादशतमे दिनाङ्के (11) अयं महान् ज्योतिर्विद् शरारं त्यक्तवान्। ज्येष्ठमासे कृष्णद्वादस्यां तिथौ शनिवासरे पूर्वाह्णे ते इहलीलां समापितवन्तः। अन्तिमे समये श्रीजगन्नाथस्य श्रीचरणकमले जीवनं गच्छतु इति तेषां प्रार्थना आसीत्। एतत् सिद्धान्तदर्पणस्य 24/159 श्लोके वर्णितम् अस्ति यत्-

वेलोघदसितगोत्रे सुत्रामादिस्तवावलीपात्रे।
गात्रं मम सुपवित्रे निपततु पुरुषोत्तमक्षेत्रे॥[11]

भगवतः श्रीजगन्नाथस्य कृपया तस्य जीवनं श्रीजगन्नाथस्य पार्श्वे एव गतम्। एवं चन्द्रशेखरसिंहसामन्तः संस्कृतसाहित्यस्य एकः मूर्द्धन्यविद्वान् आसीत्। तस्य भक्तिभावः तस्य कार्यधारायां द्रष्टुं शक्यते। जीवने वहु कष्टं सोढ्वा स च महाकाशवैज्ञानिकः सामन्तचन्द्रशेखरः समाजं प्रति विविधतत्त्वं प्रदत्तवान्।

सन्दर्भाः

1. सिद्धान्तदर्पणः - 24/147
2. सि.द. -1/20
3. सि.द. - 1/5
4. सि.द. - 1/8
5. सि.द. - 24/144
6. सि.द.- 1/10
7. सि.द. - उपसंहारः, 148
8. सि.द - 1/1
9. सि.द -1/2
10. सि.द. - 1/4
11. सि.द - 24/159

चलदूरवाणीखण्डकाव्यसमीक्षणम्

· डॉ. सी.हेच्. नागराजु*

शोधसारः

चलदूरवाणीनामकमिदं लघुकाव्यम् आधुनिककाव्यधारायां विनिर्गतं किञ्चिद् विशिष्टम् आस्ते। यच्च अस्मद्विश्वविद्यालयस्य ज्योतिषविभागाचार्येण राधाकान्तठाकुरेण विलिखितमस्ति। चलदूरवाणीरूपम् एकं फल्गु यन्त्रमाधृत्य रचयित्रा केचन शृङ्गारहास्यरससम्मिश्रिताः विचाराः नूतनशीर्षेण समुन्मील्य काव्येऽस्मिन् अभिवर्णिताः। काव्यमिदं साहित्यएकाडमीपुरस्कारस्यापि भाजनमासीत्। तादृशेऽस्मिन् काव्ये आलङ्कारिकान् वस्तुसम्बन्धिनः विषयान् आदृत्य शोधलेखोऽयम् अनुसन्धातृणाम् उपयोगाय मया प्रबद्धः। तदिदं भवन्तः धीमन्तः पठित्वा गुणदोषविवेकं कुर्वन्तीति मदाकूतिः।

बीजशब्दाः

चलदूरवाणी, कविदृष्टिः, मुक्तकश्लोकाः, प्रजापतिः, रसगङ्गाधरः, विस्मयः।

आमुखम्

अथ स्वाभीप्सितवस्तुदायिकल्पतलिकाम् अम्बुजासनानपायिनीं वागधिष्ठातृदेवतां वाणीं परामृशन् आरभ्यते अयमभिनवकाव्यतत्त्वविचारप्रचारः।

कलयतु मम चेतः कोमलाम्लानभावप्रणिहितरसतत्त्वद्योतयित्री विधात्री ।
बुधजनरसनाग्रस्यन्दिसत्काव्यधारामिलितमधुरबिन्दुस्वादसम्मोदयित्री ।।[1]

आधुनिकसमाजावस्थितनानाव्यापारपारावारसन्तरणोद्यमप्रयत्नश्रान्तसचेतश्चेतोऽभिलषितक्षिप्रानन्ददानकर्मप्रवीणकविधीसञ्जातजगत्कल्याणहेतुभावानुसारिवागमृताक्षरविन्यासकारिलेखनीप्रसूताभिनवकाव्यनिष्ठवस्तुतत्त्वविचारसरणिरतिरमणीया। भूयो भूयः स्मृतिपथस्पर्शिन्यपि नवनवोन्मिषद्विज्ञानप्रपञ्चपारदर्शिनी समस्तवस्तुतत्त्वोपदेशिनी निखिलार्थसाधनोपायदायिनी क्वचिदमङ्गलक्षयकारिणी सर्वमङ्गलात्मकपरमपुरुषार्थानुसन्धायिनीति प्राचां मतेनार्वाचीनमतमप्यविशिष्टमेव स्यात् ।

तदनु विचारणीयोऽयं कश्चिद्विषयः, यः काव्योत्पत्तौ साम्प्रतिकदेशकालजनव्यवहारचिन्तामनोऽवस्थाद्यनेकलौकिकप्रवृत्तिविशिष्टगुणाः कविमनःप्रभावकारित्वात् तत्तद्भावोदयकारका इति दिगुपदर्शिता अत एव सत्यमिदम् –

*सहाचार्यः, अनुसन्धानप्रकाशनविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः।

न कविर्जगतो भिन्नो जगदन्तर्गतो भवन् ।
संसृजत्यपरं विश्वं सचेतोह्लादकारणम् ।। इति।।[2]

अत्र प्राचामनुभव एव साक्षी। अपि च मेघदूतादिकाव्याविर्भावे कालिदासादिकवि-मनोवृत्तिविषयकलौकिकजनश्रुतिरपि मान्या। तथाहि कविदृष्टिरलोकसामान्या। अतस्तदक्षिलक्षितं यत्किञ्चिदरमणीयमपि वस्तु तद्भावपूतम् अद्वितीयसौन्दर्यकलाकाष्ठामावहति। अत्रापि तदेव संवृत्तं यत् दूरवाणी नाम किञ्चित् लोकव्यवहारसाधनं यान्त्रिकं वस्तु तदस्माकम् अध्यापकस्य राधाकान्तठाकुरस्य कविदृष्टिलक्षितं कीदृगनुपमनवेतिहाससर्जकं सम्पन्नमिति समालोचनमेवास्माकं साम्प्रतिकी वृत्तिः।

नवकाव्यनिर्माणसमुद्यतः ठाकुरमहोदयः वस्तुविषयकप्रीतिमेवं निजप्रबन्धे प्रख्यापयति।

न नैषधं दीर्घतरं प्रबन्धं तथा वियोगे न हि मेघदूतम् ।
विलेखनीयं विपुलं च काव्यं सङ्गृह्य कान्ते! तव दूरवाणि! ।।[3]

किमात्मकं काव्यमिदम् –

काव्येऽस्मिन् परस्परनिरपेक्षिणः सुकुमारपदविन्यासिस्रगित्यर्थप्रतीतिक्षमा मुक्तकश्लोकाः सन्ति । यदिदं विधिनियतजगत्पञ्जरोन्मुक्तकविमनोभावकपोतकमिव मुक्तकं पूर्वप्रकरणादिनिरपेक्षं प्रस्तुतवस्तु-विषयकसामग्रीसमृध्या कविमनोनिष्ठयथार्थानुभवजननेन प्रमातृचेतसि तूर्णं रसानुभूतिमावर्जयति । तादृशश्लोकसमुदितमिदं काव्यं कोषनामकं स्यात् । तदुक्तं लक्षणमस्य विश्वनाथेन साहित्यदर्पणस्य षष्ठपरिच्छेदावसाने –

कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योऽन्यानपेक्षकः।
व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोहरः ।।

सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या यथा मुक्तावल्यादिः।

एकवस्तुविषयिनामनपेक्षितेतिवृत्तानुक्रमाणां मुक्तकानाम् एकत्र सन्निधिः व्रज्येति प्रोक्ता । तथा रचितमिदं काव्यं कोषात्मकमिति निश्चयः। अतो महाकाव्यादपि विलक्षणं स्यादिदं यतो हि प्रतिपद्यचमत्कारजननात् ।

काव्यवस्तुविचारः –

साम्प्रतमत्र वर्णनीयतयोपात्तो वस्तुविशेषो यः आधुनिकविज्ञानप्रपञ्चस्यात्मभूतो विविधजन-साधारणव्यवहारमात्रसाधनभूतो विपरिणतः। येन विना क्षणिकमपि जीवितमस्य जगतः सुदुर्भाव्यमेव स्यात् । तादृशदूरवाणीविषयकमिदं वस्तु काव्येऽस्मिन् समस्तव्यापि सत् कविगतविलक्षणप्रतिभावैभवेन आसमन्तादखण्डानन्दविभूतिं पुष्णाति । स्थालीपुलाकन्यायेन काव्यनिष्ठवस्तुतत्त्वं तावदनुशीलयामः।

राजा च मन्त्री च पदाधिकारी चोरः श्रमी वा प्रथितोग्रवादी ।
श्रेष्ठी धनी वा पुरभिक्षुको वा सर्वस्य हस्ते चलदूरवाणी ।।[4]

समाजेऽस्मिन् सर्वोत्रोच्चनीचभेदशून्येन सर्वेषामपि करतलाग्रवर्तिनी संदृश्यमाणेयं जगत्येकताभावसन्देशप्रसारिणी जातेति कविहृदयमत्र विश्वगुद्बोधयति ।

पुनरियमस्मत्करकोषाधिवासिनी छायेव नित्यानपायिनी सती सुमधुरसङ्गीतनादविशेषैः सम्मोदयन्ती प्राणप्रिया संवृत्तेति।

वस्त्रे च हस्ते च सदा लसन्ती साकं मयेयञ्च परिभ्रमन्ती ।
सुवाद्यनादैर्बहु तोषयन्ती प्राणप्रियेयं मम दूरवाणी ।।

सत्यं खलु। आदौ केवलयन्त्रमात्रेण परिचितेयं चरवाणी सम्प्रति निजमङ्गलकर्मणा सर्वेषामपि परमप्रेयसी सञ्जाता।

सर्वोऽयं प्रपञ्चः परविनाशकामी सन् युद्धाय कृतनिश्चयः। तस्मिन् सन्दर्भे कविपाणिगता सेयं विश्वमङ्गलाय सर्वेषां मनसि सौभ्रातृत्वभावनां परिकल्प्य नित्यशान्तिमभिवर्धयति ।

अस्त्रैश्च शस्त्रैश्च सुसज्जितोऽस्ति युद्धाय देशः सकलः पृथिव्याम् ।
प्रीतिं च शान्तिं भुवि सन्धिवार्तां करोति लोके मम दूरवाणी ।।[5]

अहो प्रसङ्गस्य प्रकृतस्य कियदिदं महत्त्वं यच्चेतनजनोऽपि विश्वमङ्गलकार्यकरणे स्वार्थबुद्ध्या असमर्थो जातः। परन्तु अचेतनवस्तुमात्रस्य तादृशे शुभकर्मणि कीदृशचिकीर्षुता इति विस्मयते चेतः। अत एव सत्यमिदं वचनं कवेर्यत् –

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।[6]

कवेरलौकिकदिव्यभावनानुसन्धानबलादचेतनयन्त्रेऽपि चेतनत्वं सङ्क्रान्तं तत्पुनर्जगन्मङ्गलकारणं संवृत्तम् ।

पुनरत्र सत्यमिदं परिस्फुरति 'यदाधीनं वस्तु तादृशकर्मकारकमेव भवतीति' सर्वमङ्गल-कामुकस्य कवेः स्वाधीनवर्ति यन्त्रमिदं तथैवोपयुक्तम् । परन्तु तदेव विश्वविनाशकामुकस्य उग्रवादिनः स्वाधीनवर्ति चेत् तादृशविनाशकर्मकारकमेव भवतीति निष्कर्षः।

काव्येऽस्मिन् ईदृशपवित्रवृत्तान्तनिर्वहणेन साकं मनोरञ्जकहास्यसन्निवेशोऽपि सम्यक् परिपोषितः। तद्यथा –

व्यग्रोऽस्ति हस्तो बहुकार्यजाले सञ्चाल्यते तीव्रतरञ्च यानम् ।
सञ्चिन्त्यते चेद्विषयो निगूढः करोति विघ्नं चलदूरवाणी ।।[8]

बहुलव्यापारप्रवणो यदा पाणिर्भवति, यदा च अविलम्ब्य प्राप्यस्थानं प्रति शीघ्रगतौ च यानस्य, सुनिशितमन्त्राङ्गसमयेऽपि दूरवाणी मधुरनादैरामन्त्रयति चेत्तदा स्वीकरणे निरवकाशात् किङ्कर्तव्यताबुद्धयो भवन्ति जनाः । लोकसामान्यानुभवविषयोऽपि नित्यमयं श्रवणमात्रेण अन्तरङ्गे कमपि चमत्कारं पुष्णन् हासयति । इतिहासमुखेनापि विनोदयति काव्यमिदं यथा –

लङ्कापुरी स्वर्णमयी पुरासीत् न्यूयार्कतो लण्डनतोऽपि रम्या ।
सीता तु भीता न हि मोदते स्म यतो न हस्ते चलदूरवाणी ।।

स्वर्णमयत्वात् स्वर्गादप्यतिशयितमासीत् लङ्कापुरीवैभवम्। तत्र रावणेन बलान्नीता सीता

महापतिव्रता रामवियोगे नेषदिप तद्विलासदर्शने मोदते स्म । परन्तु दूरवाणी करसङ्गता चेत्तस्याः दुःखं क्षणे तिरोहितं स्यादिति द्योतयन् कविः एवमपि तदानीं भवितुमर्हेद्वा इति विस्मयतां नयति ।

हास्यरसपरिपोषणसमये या च वृत्तिरुपाश्रिता कविना सा नितान्तमसमासा सुकुमारपद-विन्यासमयी । गुणश्चायं जगन्नाथग्रन्थस्वारस्येन माधुर्यं प्रसादो वा स्यात् । यथा –

अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति ।
अपरे तु माधुर्यमात्रम् ।[9]

'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म काव्यमिति' यत् मम्मटभट्टारकाणां मतं तत् राधाकान्ताध्यापकस्य काव्यगतरमणीयशृङ्गाररससन्निवेशसमये साधुवादताङ्कितम् । तस्य वर्णनावसरे पदविन्यासः श्रुतिमात्रावबोधको भवति ।

बालाश्च बालः प्रतिभाति कृष्णः गोपाङ्गनाः सन्ति च देशबालाः।
कुर्वन्ति यन्त्रैः रसरासनृत्यं वृन्दावनं भारतमेव सर्वम् ।।[10]

प्रकरणेऽस्मिन् गोपीकृष्णलोकोत्तरमधुरप्रणयं काव्ये कविरुन्मीलयति। नवीनसमाजे पाश्चात्यविद्याप्रभावेण तेषाम् आचारव्यवहारानुकरणेन च भारतीययुवतीयुवकाः विशृङ्खलतया अभिसरन्ति। तत्सर्वं पराकर्तुं कवेरत्रोत्प्रेक्षाशक्तिः दूरवाणीभाषणव्याजेन युवानः सर्वेऽपि गोपीकृष्णप्रतिमाः रसरासनृत्यमाचरन्तीति पवित्रभावनां सर्वेषां मनसि विधत्ते। **'बृन्दावनं भारतमेव सर्वम्'** इत्यत्र सम्पूर्णभारतमेव तेषां वृन्दावनं प्रतिभातम्। तत्र एवकारोऽपि कवेः भावनां प्रतरां द्रढयति। ईदृक्कार्यमपि दूरवाण्या एव साध्यमिति कविभावः नितरां प्रशंस्यः।

प्रकरणेऽस्मिन् आलङ्कारिकशास्त्रनियमोऽपि सम्यक् अनुशीलितोऽस्ति । यथा –

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे दृतिकारणम् ।[11]

इति मम्मटाचार्यमतस्वारस्येन चित्तद्रवीकरणहेतुः माधुर्यगुणः विलसति। तदभिव्यञ्जकवर्णैरुपनागरिकावृत्तिरपि विराजते।

पुनरत्र अद्भुतरसाभिव्यञ्जकसन्निवेशोऽपि कविना समीचीनतया परिपोषितः। सोऽयमनुभाव्य एव भवति ।

नक्षत्रतारासहितञ्च विश्वं यशोदया कृष्णमुखे तु दृष्टम् ।
अहो तथैवास्ति च दर्शनीयं जाले विशाले चलदूरवाण्याः ।। [12]

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा आश्चर्याख्यो विस्मयः इति जगन्नाथस्य अद्भुतरसस्थायि-विस्मयस्य लक्षणात् कविमनोभावश्चाविशिष्ट एव। कथमिदं सम्भूतं दूरवाणीजवनिकान्तर्हितं ब्रह्माण्डमिदं परिणतम्। नवीनविज्ञानशास्त्रस्य महिमैव स्यादत्र कारणम्।

काव्येऽस्मिन् तत्तत्प्रकरणे स्मारं स्मारं मधुरमधुरायिताः विषयाः अनेके प्रसक्ताः। ये च सहृदयहृदयमात्रसंवेद्याः विना विलम्बं श्रुतिमात्रेण रसोद्बोधक्षमाः चर्वणीयाश्च।

अत एव कविवाणी दूरवाण्याः एवायं नवेतिहासः इति तत्र पुराणकथाश्रवणविमुखः सर्वोऽपि लोकः

तव सर्वतो विलक्षणविचित्रचरित्रमाकर्ण्य परवशीभवेदिति सुतरां हर्षप्रकर्षोत्कटं समुज्जृम्भते ।

नवेतिहासो भविता सखे! हे तत्रासि नूनं प्रथमा त्वमेव ।
सा भैमिषी क्वापि शकुन्तलापि श्रुत्वा पुराणं बधिरोऽस्ति लोकः ।।[13]

ईदृशसर्वाङ्गसुन्दरसरसवस्तुसमन्वितस्य काव्यस्यास्य निर्माता कविः राधाकान्तठाकुरः नित्ययशस्कः भवतु।

सन्दर्भाः

1. (आत्मकृतिः)
2. (आत्मकृतिः)
3. चलदूरवाणीकाव्यम् - १५७
4. तत्रैव - ३
5. तत्रैव - ९
6. तत्रैव - ५६
7. ध्वन्यालोकः - तृतीयोद्योतः
8. च. दू. वा. - ३३
9. रसगङ्गाधरः – प्र. आ.
10. च. दू. वा. - ९९
11. काव्यप्रकाशः – ८ उल्लासः
12. च. दु. वा. - ४०
13. तत्रैव. – १५८

क्षितौ गन्धः समाश्रितः समवायसम्बन्धेन

· डॉ. आशीषकुमारः*

शोधसारः

प्रस्तुते शोधपत्रे तर्कसङ्ग्रहग्रन्थस्य पृथिवीलक्षणस्य परिष्कारो विधत्तः। ग्रन्थकारस्य "तत्र गन्धवती पृथिवी" इति लक्षणस्य कोऽभिप्रायः? कथञ्चास्मिन् लक्षणे दोषपरिहारः कर्तुं शक्यते- इत्यादीन् विषयान् हृदि निधाय न्यायवैशेषिकसिद्धान्तानुगुणं व्याख्यानं प्रस्तुतम्।

बीजशब्दाः – घटकता, आश्रयता, अधिकरणता, आधेयता, अभेदसम्बन्धः, निरूपितत्त्वम्, समवायः, कालिकसम्बन्धः, अव्याप्तिः, अतिव्याप्तिः।

श्रीमता अन्नम्भट्टेन "तत्र गन्धवती पृथिवी"[1] इति पृथिव्या लक्षणमकारि। अस्य च शाव्दबोधः इत्थं वर्तते। तत्र पृथिवी गन्धवती इत्येवं अन्वयः। तत्र इत्यत्र तत् शब्दस्य पृथिव्यादिनवद्रव्यसमुदायः इत्यर्थः। त्रल् प्रत्ययस्य 'घटकता' इत्यर्थः। पृथिवीशब्दस्य पृथिवी इत्यर्थः। पृथिव्यादिनवद्रव्यसमुदायस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन त्रल्प्रत्ययार्थघटकतायामन्वयः। घटकतायाः आश्रयतासम्बन्धेन पृथिवीशब्दार्थ पृथिव्यामन्वयः। एवञ्च पृथिवी पृथिव्यादिनवद्रव्यसमुदायनिरुपितघटकताश्रयीभूता इति तत्र गन्धवती पृथिवी इत्यस्य शाब्दबोधः।

गन्धवती इत्यस्य विग्रहः –'गन्धः अस्याम् अस्तीति'। अत्र गन्धशब्दस्य गन्धः इत्यर्थः। अस्याम् इत्यत्र इदं शब्दस्य यत्किञ्चित्पदार्थःइत्यर्थः। सप्तम्याः (ङिप्रत्ययस्य) अधिकरणता इत्यर्थः। अस्ति इत्यत्र अस्धातोःतिप्प्रत्ययः वर्तते, अस्धातोः आधेयता इत्यर्थः तिप्प्रत्ययस्य च आश्रयतावानित्यर्थः। यत्किञ्चित् पदार्थस्य आधेयतासम्बन्धेन सप्तम्यर्थाधिकरणतायामन्वयः। अधिकरणतायाश्च निरूपितत्वसम्बन्धेन अस्धात्वर्थाधेयतायामन्वयः। आधेयतायाः निरूपितत्वसम्बन्धेन तिप्प्रत्ययार्थैकदेशे आश्रयतायामन्वयः। आश्रयतावतः अभेदसम्बन्धेन गन्धे अन्वयः। एवञ्च गन्धः यत्किञ्चित्पदार्थनिष्ठ-अधिकरणतानिरूपिताधेयतानिरूपिताश्रयतावदभिन्नः। एवञ्च विग्रहवाक्येन गन्धविशेष्यकयत्किञ्चित्पदार्थनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतानिरूपिता-श्रयतावदभिन्नत्वप्रकारकः शाब्दबोधः जातः।

विग्रहवाक्येन यादृशविशेष्यविशेषणभावापन्नः शाब्दबोधो जायते[2] वृत्तिवाक्येन

*सहायकाचार्य, संस्कृतविभागः, इलाहाबादविश्वविद्यालयः, प्रयागराजः

तद्विपरीतविशेष्यविशेषणभावापन्नशाब्दबोधो जायते[2] इति नियमात् गन्धवतीति वृत्तिवाक्येन यत्किञ्चित्पदार्थविशेष्यकगन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतावत्त्वप्रकारक शाब्दबोधो जायते। अधिकरणतावतः अभेदसम्बन्धेन पृथिव्यामन्वयः। एवञ्च पृथिव्यादिनवद्रव्यसमुदायनिरूपितघटकताश्रयीभूता पृथिवी, गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिता-धिकरणतावदभिन्ना पृथिवीति तत्र पृथिवी गन्धवतीत्यस्य शाब्दबोधः। एवं गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्। यथा-पृथिव्यां गन्धः अस्ति, अतो गन्धः आधेयः पृथिवी अधिकरणम्। आधेयता गन्धनिष्ठा, अधिकरणता पृथिवीनिष्ठा। गन्धनिष्ठाधेयतायाः पृथिवीनिष्ठाधिकरणतायाश्च निरूपितत्त्वं सम्बन्धः। गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिता पृथिवीनिष्ठाधिकरणता। अतः गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपित-अधिकरणतावती पृथिवी। गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वं पृथिव्यामागतम् इति लक्षणसमन्वयः।

परञ्च लक्षणमिदमतिव्याप्तिदोषग्रस्तम्, कथमिति चेत –''सर्वाधारः कालः'' इति नियमात् काले सर्वं वर्तते अतः गन्धोऽपि वर्तते। अतः गन्धः आधेयः, कालः अधिकरणम् , आधेयता गन्धनिष्ठा, अधिकरणता कालनिष्ठा। गन्धनिष्ठाधेयतायाः कालनिष्ठाधिकरणतायाश्च निरूपितत्त्वं सम्बन्धः। अतः गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिता कालनिष्ठाधिकरणता। गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपित-अधिकरणतावान् कालः। गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वं पृथिवीलक्षणम् अलक्ष्ये काले आगतम्। एवं लक्षणे अतिव्याप्तिदोषः। तत्परिहारार्थं लक्षणे गन्धनिष्ठाधेयतायां समवायसम्बन्धावच्छिन्नत्वरूपविशेषणं दीयते। तदा लक्षणं भवति-समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतावत्त्वम्। इदं लक्षणं लक्ष्यायां पृथिव्यामस्ति, तत्कथमिति चेत्? पृथिव्यां गन्धः समवायसम्बन्धेन[3] वर्तते, यतः गुणगुणिनोः समवायः[4] इति नियमात्। यः येन सम्बन्धेन वर्तते तन्निष्ठाधेयता तत्सम्बन्धावच्छिन्ना इति नियमात् गन्धनिष्ठाधेयता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना भवति। एवञ्च समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिता पृथिवीनिष्ठाधिकरणता। समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतावत्त्वं पृथिव्यामागतमिति लक्षणसमन्वयः। इदं लक्षणं अलक्ष्यभूते काले न वर्तते, कुतः इति चेत् – सर्वाधारः कालः[5] इति नियमात् काले सर्वं वर्तते, अतः गन्धोऽपि वर्तते। परञ्च गन्धः काले कालिकसम्बन्धेन वर्तते न तु समवायसम्बन्धेन, अतः गन्धनिष्ठाधेयता कालिकसम्बन्धावच्छिन्ना भवति न तु समवायसम्बन्धावच्छिन्ना। अतः कालिकसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतायाः कालनिष्ठाधिकरणतायाश्च निरूपितत्त्वं सम्बन्धः स्यात्। एवं कालिकसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतानिरूपिता कालनिष्ठाधिकरणता। एवञ्च कालिकसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतानिरूपित- अधिकरणतावान् कालो भवति, किन्तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धन्ष्ठाधेयतानिरूपित- अधिकरणतावान् कालो न भवति। यद्यपि गन्धनिष्ठाधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वं काले आगतम् किन्तु इदानीन्तनं समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठ-आधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वरूपलक्षणं काले नास्त्यतो नाऽतिव्याप्तिः।

समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठ-आधेयतानिरूपिताधिकरणतावत्त्वरूपपृथिवीलक्षणं जले

आगच्छतीति पुनः अतिव्याप्तिः[6], तत्कथमिति चेत्? जले शीतस्पर्शः[7] समवायसम्बन्धेन गुणत्वेन रूपेण अस्ति, अतः शीतस्पर्शः आधेयः जलमधिकरणम्, आधेयता शीतस्पर्शनिष्ठा अधिकरणता जलनिष्ठा, यः येन सम्बन्धेन वर्तते तन्निष्ठाधेयता तत्सम्बन्धावच्छिन्ना भवतीति नियमात् शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना भवति। तथा यः येन रूपेण (धर्मेण) वर्तते तन्निष्ठाधेयता तद्धर्मावच्छिन्नेति नियमादियं शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता गुणत्वावच्छिन्ना भवति। अपि च तद्धर्मावचिछन्ना आधेयता तद्धर्माश्रयनिखिलवस्तुनिष्ठेति नियमादियं शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता गुणत्वाश्रयनिखिलगुणनिष्ठाऽपि भवति। अतः गन्धनिष्ठाऽपि भवति। एवञ्च लक्षणस्थ समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतापदेन इयं शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता स्वीक्रियते चेत् तन्निरूपिताऽधिकरणता जलनिष्ठाऽधिकरणता भवति। अतः समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठ-आधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वं जले आगतमित्यतिव्याप्तिदोषः।

तत्परिहारार्थं गन्धनिष्ठाधेयतायां गन्धत्वावच्छिन्नत्वरूपविशेषणं देयम्। तदा पृथिव्याः लक्षणं भवति-''समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठ-आधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वम्।'' इदं लक्षणं पृथिव्यां वर्तते। तथाहि- पृथिव्यां गन्धः समवायसम्बन्धेन गन्धत्वेन रूपेण चाऽस्ति । अतः गन्धः आधेयः, पृथिवी अधिकरणम्, आधेयता गन्धनिष्ठा, अधिकरणता पृथिवीनिष्ठा। सा चाऽधेयता पूर्वोक्तनियमद्वयात् (यः येन सम्बन्धेन वर्तते तन्निष्ठाधेयता तत्सम्बन्धावच्छिन्ना भवतीति तथा च तद्धर्मावचिछन्ना आधेयता तद्धर्माश्रयनिखिलवस्तुनिष्ठेति) समवायसम्बन्धावच्छिन्ना गन्धत्वावच्छिन्ना च भवति। अतः समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठ-आधेयतानिरूपिता पृथिवीनिष्ठाऽधिकरणता। तादृशाऽधिकरणतावत्त्वं पृथिव्यामागतमिति लक्षणसमन्वयः। इदं लक्षणं जले न वर्तते, कुतः? इदं लक्षणं जले वर्तते इति प्रदर्शनार्थं जले शीतस्पर्शः समवायसम्बन्धेन गुणत्वेन रूपेण अस्ति, इति स्वीकृत्य शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना गुणत्वावच्छिन्ना भवतीत्युक्त्वा गन्धनिष्ठाऽपि भवतीति प्रदर्शितम्। अतः समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतापदेन शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता स्वीकृता। किन्तु इदानीन्तनलक्षणानुसारं समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वा-वच्छिन्नगन्धनिष्ठाधेयतापदेन सा शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता स्वीकर्तुं न शक्यते, यतोहि सा शीतस्पर्शनिष्ठा आधेयता गन्धत्वावच्छिन्ना न भवति, सा तु गुणत्वावच्छिन्ना एव भवति। अतः स्वीकर्तुं न शक्यते। एवञ्च समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धनिष्ठ-आधेयतानिरूपित-अधिकरणतावत्त्वरूपपृथिव्याः पूर्वतनं लक्षणं जले आगतमपि इदानीन्तनं ''समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिता-धिकरणतावत्त्वम्'' इति पृथिवीलक्षणं जले न आगच्छतीति नाऽतिव्याप्तिः।

इदानीमपि ''समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिता-धिकरणतावत्त्वम्'' इति पृथिवीलक्षणे अव्याप्तिदोषः सम्भवति अव्याप्तिर्नाम ''लक्ष्यैकदेशाऽवृत्तित्वम्''।[8] अत्राऽव्याप्तिः कथमिति चेत्? तथाहि- उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठतीति नियमात् उत्पन्ने द्रव्ये प्रथमक्षणे कोऽपि गुणः न वर्तते एवमाद्यक्षणे वर्तमानायां पृथिव्यां गन्धरूपगुणो न वर्तते,[9] अतः तादृशलक्ष्यैकदेशे इदं लक्षणं नास्ति, अथच द्वितीयक्षणाद्यवच्छिन्नायां पृथिव्यामिदं लक्षणं वर्तते (लक्ष्यैकदेशे

आगतं लक्ष्यैकदेशे नाऽगतम्) अतोऽव्याप्तिः, एतद्दोषपरिहारार्थं जातिघटितलक्षणं देयम्। तदा पृथिवीलक्षणं तु ''समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिताधिकरणतावद्वृत्तिः या जातिः तादृशजातिमत्त्वमिति भवति। आद्यक्षणे वर्तमानायां पृथिव्यां गन्धरूपगुणो न वर्तते, अतो गुणाभावेन गन्धरूपगुणघटितपूर्वलक्षणाभावेऽपि तत्र जातिसत्त्वेन इदं जातिघटितलक्षणं तत्र वर्तते, अन्यासु सर्वासु पृथिवीष्वपि वर्तते, इति नाऽतिव्याप्तिः। तथाहि समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वा-वच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिताधिकरणतावती द्वितीयक्षणाद्यवच्छिन्ना पृथिवी, तद्वृत्तिः– तत्र वर्तमाना या जातिः पृथिवीत्वरूपजातिः, तादृशजातिमत्त्वं सर्वासु पृथिवीषु (आद्यक्षणे वर्तमानायां पृथिव्यां, द्वितीयक्षणाद्यवच्छिन्नायां पृथिव्यां च) आगतमिति लक्षणसमन्वयः। अतो नाऽव्याप्तिदोषः। अस्मिन् नूतने लक्षणे पुनः अतिव्याप्तिः भवति, तथाहि- ''समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठ-आधेयतानिरूपिताधिकरणतावती द्वितीयक्षणाद्यवच्छिन्ना पृथिवी, तद्वृत्तिः या जातिः इत्युक्ते सत्ता वा द्रव्यत्वरूपजातिः स्वीकर्तुं शक्यते । तादृशजातिमत्त्वं यदा सत्ता स्वीक्रियते तदा नवद्रव्येषु , गुणेषु, कर्मसु च आगच्छति यदा द्रव्यत्वं स्वीक्रियते तदा नवद्रव्येषु आगच्छति, एवं पृथिवीलक्षणं पुनः अलक्ष्येषु आगतमिति लक्षणस्य अतिव्याप्तिः। एतद्दोषपरिहारार्थं जातौ द्रव्यत्वव्याप्यत्वरूपविशेषणं देयम्। तदा लक्षणं तु ''समवायसम्बन्धावच्छिन्न-गन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिताधिकरणतावद्वृत्तिः द्रव्यत्वव्याप्या या जातिः तादृशजातिमत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्। ''समवायसम्बन्धावच्छिन्न-गन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिताधिकरणतावद्वृत्तिः द्रव्यत्वव्याप्या या जातिः इत्युक्ते पृथिवीत्वजातिर्भवति[10] (पृथिवीत्वमात्रं भवति), सत्ता वा द्रव्यत्वं वा न भवति। तादृशजातिमत्त्वं सर्वासु पृथिवीषु वर्तते , अन्येषु द्रव्येषु , गुणेषु कर्मसु च न वर्तते। अतः नाऽतिव्याप्तिः। अत्र जातौ विशेषणद्वयं वर्तते– प्रथमं समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वा-वच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिताधिकरणतावद्वृत्तित्वं, द्वितीयं द्रव्यत्वव्याप्या या जातिः तादृशजातिमत्त्वम्। द्रव्यत्वव्याप्या या जातिः तादृशजातिमत्त्वम् इत्येव पृथिवीलक्षणमस्तु,

''समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिताधिकरणतावद्वृत्तिरूपविशेषणमिह मास्तु, इत्युक्ते अतिव्याप्तिदोषः सम्भवति– तथाहि - द्रव्यत्वव्याप्या या जातिः इत्युक्ते अप्त्वादिकमपि भवति, तादृशजातिमत्त्वम् अबादिषु द्रव्येष्वलक्ष्येष्वागतमित्यतिव्याप्तिः। तत्परिहारार्थं जातौ ''समवायसम्बन्धावच्छिन्न-गन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिताधिकरणतावद्वृत्तित्वरूपं प्रथमविशेषणमपि देयम्। तदा ''समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठाऽधेयतानिरूपिता-धिकरणतावद्वृत्तिः द्रव्यत्वव्याप्या या जातिः तादृशजातिमत्त्वमिति लक्षणं पृथिवीमात्रे वर्तते अबादिषु न वर्तते, इति नाऽतिव्याप्तिः।

सन्दर्भाः

1. तर्कसङ्ग्रहः – श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, संस्करणवर्षम् २००३ पृ. सं. २०
2. नियमनिरूपणे – न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याः किरणावलीटीकायाम्, संस्करणवर्षम्-२०११ पृ. सं. ५०४
3. अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः – तर्कभाषा - पं. बदरीनाथशुक्ल मोतीलाल-बनारसीदाससंस्करणवर्षम् २००७ पृ.सं.३६

4. न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम् – का. सं. ११ श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः संस्करणवर्षम्-२०११
5. नियमनिरूपणे – न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याः किरणावलीटीकायाम्, संस्करणवर्षम्-२०११, पृ. सं. ५०४
६. लक्ष्यवृत्तित्वे सति अलक्ष्यवृत्तित्वम् – तर्कसङ्ग्रहस्य पदकृत्ये- श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, संस्करणवर्षम् २००३, पृ.सं. २१
७. शीतस्पर्शवत्यापः - तर्कसङ्ग्रहः - श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, संस्करणवर्षम् २००३, पृ.सं. २५
८. तर्कसङ्ग्रहस्य पदकृत्ये- श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, संस्करणवर्षम् २००३, पृ.सं. २१
9. प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते – तर्कभाषा - पं. बदरीनाथशुक्ल पं. बदरीनाथशुक्ल मोतीलाल-बनारसीदाससंस्करणवर्षम् २००७, पृ.सं. ४६
10. पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति - न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम् – का. सं. ३५ श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः

अतिमहनीयो वेदान्तप्रस्थानमहिमा

· डॉ. भुवनेश्वरीभारद्वाजः*

शोधसारः

अस्य शोधलेखस्य उद्देश्यम् असम्भावनायाः विपरीतभावनाश्च निवर्तनम् अथ च श्रुतितात्पर्यस्य सम्यग् अवबोधनम्। धर्मस्य सकललोकस्थितिमूलस्य ब्रहमणश्च जगन्मूलस्य सम्यग् अवबोधाय श्रुतिरेव यथा शरणम् तथाऽत्र विशदीकृतम्। आत्मविज्ञानम् बन्धविमोकः ब्रहात्मतावाप्तिः शोकमोहापगमश्चेति परमं प्रयोजनं वेदान्तानुशीलनस्य इति सम्यक् अत्र विचारितम्।

बीजशब्दाः

श्रुतिप्रस्थानम्, ब्रम्ह्सूगम्, युक्तिस्वारस्यम्, पूर्णप्रज्ञभाष्यम्, ईश्वरः।

यास्तावद् ईशाद्युपनिषदः तत् श्रुतिप्रस्थानम्। ब्रह्मसूत्राणि श्रीमता बादरायणेन विरचितानि श्रुत्यर्थग्राहकाणि-तदेतत् सूत्रप्रस्थानम्। श्रीमद्भगवद्गीता श्रुत्यर्थमनुगच्छन्ती प्रमाणभावमाकलयन्ती यद् विभाति तत् किल स्मृति-प्रस्थानम्। काचिद् अतिदुर्बोधा श्रुतिः, अन्या अनारव्धाधीतवाक्यात्मा, इतरा पूर्वापरसम्बन्ध- संगतिशून्या, अपरा तु आकांक्षापूरक -वाक्यरहिता साकाङ्क्षा परा तु विपर्यासवाक्यात्मा झटिति सुकुमारमतेः बोधभूमिं नावतरति प्रमातुः तात्पर्यमवधारयन्ती। अतः तात्पर्यनिर्धारणाय उपक्रमोपसंहाराद्यष्टविधैः लिङ्गैः सर्वविधाः श्रुतीः परब्रह्मणि संगमयितुं यथायथम् असम्भावनां विपरीतभावनां च निवर्तयन् भगवान् बादरायणः ब्रह्मसूत्रं नाम ग्रन्थरत्नम् अधिकरणसंविभक्तं सूत्रजालं जग्रन्थ। तदधिकृत्य नानाविधानि शारीरकभाष्यप्रमुखानि भाष्याणि समारचितानि अहमहमिकया। तदेवं गभीरमगाधं श्रुतितात्पर्यम् सम्यग्बुद्घवा अवबोधयितुं जनान् ब्रह्मसूत्रकृतां सूत्रग्रन्थरचने प्रवृत्तिरभिनन्द्यतेतमाम्। श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छदिति महाकवि-सूक्तिं चरितार्थयन्ती श्रीमद्भगवद्गीता गूढार्थायाः श्रुतेस्तात्पर्यावबोधे यथा सहाया भवति तथा भाष्यकृद्भिः स्वस्वसिद्वान्तसमर्थनाय सोत्साहं सुयुक्ति विशदीकृता समाभाति। यावन्तो भाष्यकृतः श्रुतिप्रस्थानस्य स्वं स्वं यं कञ्चन सिद्धान्तविशेषं हृदि धारयन्ति। ते ते सर्वेपि तात्पर्यविशेषाः ब्रह्मसूत्रैः अधिकरण-संविभक्तैः यथा प्रकाश्यन्ते तथा तथा विभिन्नैः दार्शनिकैः, वैदिकैः तान्त्रिकैश्च स्वस्वोत्प्रेक्षां प्रकटयद्भिः भाष्यकृद्भिः श्रुतिवाक्यानामिव ब्रह्मसूत्राणामपि विविधाशयसिद्धान्तार्थगर्भिता प्रतिपादन-कौशलकलया प्रतिबोध्यमाना सुप्रकाशते। तद्वद् श्रीमद्भगवद्गीतोक्तिरपि विभिन्नाचार्याशयम्

*असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत तथा प्राकृत भाषाविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

अव्याकुलम् आत्मसात्कुर्वाणा यथा चकास्ति तथा विभिन्नैः भाष्यकृद्भिः क्रियमाणैर्भाष्यैः सुधियः सुव्यक्तं विविक्तं विभिन्नाशयम् अवगच्छन्तः अध्ययनाध्यापनाभ्यां विशदयन्तश्च गुरुपरम्पराम् अग्रेसारयन्तो जयन्ति।

अथ विचार्यताम्- कथमिव अध्यात्मबोधे श्रुतिस्वारस्यम्, युक्तिस्वारस्यं वा भगवता बादरायणेन ब्रह्मसूत्रमातन्वता स्पृह्यते? अमुं जिज्ञासाम् उपशमयितुं तदीयं सूत्रमेकमपि पर्याप्तमाभाति - "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्" इति[1] शास्त्रैकसमधिगम्ये अध्यात्मबोधे श्रुतिस्तन्मूलकञ्च विविधं शास्त्रमेव अधिकारिभेदेन प्रामाण्यमश्नुते। यदि लोकस्य इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानं ज्ञानमेव प्रमाणं भवेत् तेनैव चोन्नेयं सकलं शास्त्रज्ञानं तदा यथा वेत्ति पश्यति च लोकस्तस्यैवानुसरणं कामचारेण भवतु तदेवं शास्त्रस्य विदुषश्च प्रयोजनशून्यतैव समापतेत्। यथोक्तम्-

अयं हि सकलो लोको यथा वेत्ति च पश्यति।
ज्ञानं तदेवचेज्ज्ञानं दर्शनं दर्शनं भवेत्।
तदाशास्त्रस्य विदुषो नैव किञ्चित् प्रयोजनम्। इति[2]

अयमाशयः- "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति..... तद् विजिज्ञासस्व.....इति[3] श्रौतं तटस्थलक्षणम् जगत्कर्तुः।" तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि – इति[4] "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इति"[5] यद्ज्ञानं युक्त्या प्रकल्पनीयं शब्देन वा निर्धार्यम् इति जिज्ञासायां सूत्रमिदं पुरस्क्रियते- "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति"।[6] अयमाशयः-शब्दैकप्रमाणसमधिगम्यं जगत्कारणस्वरूपं "जन्माद्यस्य यतः"[7] "शास्त्रयोनित्वादिति"[8] सूत्राभ्याम् विशकलितं ब्रह्मसूत्रस्यारम्भे।

ततः जगत्कारणस्वरूपविषये अनुमानाद्यात्मिकायाः युक्तेः न कथमपि स्वतन्त्रं प्रामाण्यं वेदान्तसम्मतम् इति समभिप्रैति ब्रह्मसूत्रकृत्। लौकिक्यो या युक्तयः तासां विरोधे उपस्थिते सति श्रुतिरेव नितरां श्रद्धेया अध्यात्मविषये विशिष्य धर्मब्रह्मणोर्विषये। लौकिकी युक्तिर्विरोधपर्यवसायिनी सती सुतरामेव समुपेक्षणीया न तु अंशतोऽपि श्रुतिसंकोच आदरणीयः। अत एव भगवत्पादाः जगतः कारणं ब्रह्म शब्दप्रमाणकमेव न तु इन्द्रियादि-प्रमाणकमित्येवं व्याचक्षाणाः श्रुतिविरोधे समुपस्थितानां शास्त्रेतर-प्रत्यक्षादिप्रमाणानाम् अतीन्द्रिययाथात्म्यावबोधे उपेक्षामेव निर्णयन्ति। अनुसन्धीयतां तावत् प्रकृतसूत्रीयं शारीरकभाष्यम् शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकम्। तद् यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्। तस्माच्छब्दमूलस्वातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगम इति।[9]

अथात्र सूत्रे श्रीरामानुजभाष्यं सुस्पष्टं श्रौते परमार्थे आत्मवस्तुनि सदसच्छरीरे ब्रह्मणि शब्दैक प्रमाणकत्वं सुस्पष्टमभिदधत् श्रौतं विचित्रशक्तिमत्त्वम् आविष्कुर्वत् प्रत्यक्षादि-प्रमाणानां शब्देतरतया मण्डनं खण्डनं वा समुपेक्षमाणमेव विजृम्भते। तद्यथा- 'श्रौतेऽर्थे यथाश्रुति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः।..... शब्दैकप्रमाणकत्वेन सकलेतरवस्तुविसजातीयत्वादस्यार्थस्य विचित्रशक्तियोगो न विरुध्यते - इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं दूषणं वार्हति ब्रह्मेति।' इति[10]

अथ मनाग् आलोच्यताम् पूर्णप्रज्ञभाष्यम्। तत् सुस्पष्टमाख्याति कामम् ईश्वरः नेन्द्रियाणां गोचरः, न वा प्रत्यक्षोपजीव्यानाम् अनुमानादीनां गोचरः, तथापि ईश्वरप्रतिपादकश्रुतेः निरवधिकसामर्थ्यायाः

प्रामाण्यमाधृत्य हतसामर्थ्यानां प्रत्यक्षादीनामप्रसरेऽपि शब्दमूल ईश्वरो न अपह्मवनीयः इति।[11] तद्यथा- 'ईश्वरविषये न कश्चिद् विरोधः। कुतः? श्रुतेरेव। शब्दमूलत्वाच्च न युक्तिविरोधः।' इति तदेवं स्थालीपुलाकन्यायेन विभिन्नान् सिद्धान्तवादान् आतिष्ठमानानाम् भाष्यकृताम् अयं तावद् आशयः प्रकाशते- श्रुतिप्रतिपाद्ये जगत्कारणे ब्रह्मणि, निरवच्छिन्नं सूक्ष्मासूक्ष्मसर्वविषयमाकलयतः अहमः इदमश्च प्रकाशनमाविष्कुर्वतः अनाप्तानुक्तवाक्यात्मनः आगमस्यैव प्रामाण्यम् लोकव्यवहारे प्राचुर्येण व्यवह्रियमाणस्य प्रत्यक्षस्य अनुमानादेर्वा परिच्छिन्नविषयात्मनः सूक्ष्मे अतीन्द्रियवस्तुनि अप्रसरतः परिच्छिन्नसामर्थ्यमञ्चतो विशेषात्मना सामान्यात्मना वा ज्ञातुम् अप्रभवतः जगत्कारणस्वरूपनिर्धारणे नैव प्रामाण्यम्। तदीयम् आपातरमणीयं विरोधम् आदाय न कम्पते निष्कम्पं तात्पर्यप्रकाशनपरं निरवद्यं श्रुतिवाक्यम्, प्रत्युत ज्येष्ठस्यापि प्रत्यक्षस्य किमुत तदुपजीव्यस्य अनुमानस्य सति विरोधे बाधमेवाऽऽकुरुते तदपबाधात्मबोधमुपजनयद् अन्यथा तद्द्वैयर्थ्यानपनोदनात्।

यदुक्तम्- 'तदनपबाधने तदपबाधात्मनस्तस्योत्पत्तेरनुत्पत्तेः' इति।[12] अतः यदेवात्मतत्त्वं शब्दप्रमाणगम्यम् अनुमानेनापि अनुगम्यम्, शास्त्रस्य जगतश्च उद्भावकं विलसति तदेव बन्धापगमे मोक्षावाप्तौ च हेतुभूतं विलसति। मोक्षावाप्तौ आत्मनः किं स्वरूपं साक्षात्क्रियमाणं साधकस्येति जिज्ञासायां नितरामनुशीलनीयाः श्रुतयः प्रथन्ते। तद् यथा-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ इति ॥[13]
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥ इति॥[14] **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। ॥ इति॥**[15]
अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः इति[16]**, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः इति**[17]**,**
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति इति च।[18]

प्रथमवाक्ये – भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यनेन बन्धहानम् एवं च तस्मिन् दृष्टे परावरे इत्यनेन आत्मविज्ञानस्य पाशहानिः फलं प्रकाश्यते।

द्वितीयवाक्ये – निचाय्येति पदेन आत्मविज्ञानं पुरस्क्रियते अथ मृत्युमुखात् प्रमुच्यते इति वाक्यांशेन बन्धहानम् आत्मज्ञानफलमिति प्रतिपाद्यते।

तृतीयवाक्ये – सन्ब्रह्मैवेति पदेन आत्मविज्ञानं महत्फलमिति प्रतिवेद्यते ब्रह्माप्येति - इति वाक्यांशेन तु ब्रह्मात्मविज्ञानस्य ब्रह्मात्मतावाप्तिः अर्थात् हर्षः संसृतिमुक्ति-हेतु- सुखभूरित्येवम् उत्कृष्टसुखावाप्तिः फलमभिप्रकाश्यते।

चतुर्थवाक्ये – अशरीरं सन्तमिति छान्दोग्यवाक्यांशेन आत्मज्ञानफलम् बन्धशैथिल्यमवबोध्यते, न प्रियाप्रिये स्पृशतः इति वाक्यांशेन आत्मविज्ञानवतः शोक संशयादि-स्पर्शाभावः फलमावेद्यते।

पञ्चमवाक्ये – ज्ञात्वा देवमित्यंशेन आत्मसाक्षात्कारः शिवगुरोरनुग्रहप्राप्तिमभिव्यनक्ति। सर्वपापैः मुच्यते- इत्यंशेन आत्मसाक्षात्कारस्य पाशच्छेदो महत् फलम् आवेद्यते।

षष्ठ वाक्ये – ब्रह्म वेदेत्यंशेन ब्रह्मात्मविज्ञानस्य महदैश्वर्यमभिव्यज्यते चेद् ब्रह्मैव भवतीति- वाक्यांशेन ब्रह्मात्मकस्वरूपसम्पत्तिः ब्रह्मवेदनस्य निरवच्छिन्नाकृत्रिम-ब्रह्मानन्दावाप्तिः फलमावेद्यते।

उपर्युक्तेषु षट्सु वाक्येषु तादृशेषु वाक्यान्तरेषु च मोक्षसम्बद्धेषु प्राप्यमाणाः पदार्थाः चतुर्धा विभाज्यन्ते। तद्यथा-आत्मविज्ञानम्, बन्धविमोकः, ब्रह्मात्मतावाप्तिः शोकमोहापगमश्चेति। तत्र वेदनात्मनो जानातेः सामान्यज्ञानमर्थः। सोपसर्गस्य तस्य तु प्रतिबोधापरपर्यायः साक्षात्कारात्मा विशिष्टो बोध इत्ययमर्थः प्रद्योतते। तद्यथा- "विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः" - इत्यत्र निरुपसर्गः विद्वानिति, "यो वेद निहितं गुहायाम् - इत्यत्र "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यत्र च निरुपसर्गः वेदेति पदम्, 'तस्मिन् दृष्टे 'परावरे इत्यत्र दृष्टे इति', तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति इत्यत्र वा विदित्वेति पदम् निरुपसर्गं विलसति। ज्ञात्वा देव मुच्यते. इत्यत्रापि निरुपसर्गज्ञाप्रकृतिकं ज्ञात्वेति पदम् सामान्यम् आत्मज्ञानं अर्थमवबोधयति।

यदा श्रुतिवाक्येषु सोपसर्गः ज्ञानार्थकः धातुः प्रयुज्यते तदा आत्मसाक्षात्कारात्मा विशिष्टोऽर्थः सद्यो मोक्षप्रापकः प्रतीयते। यथा विजानतः, विज्ञानवान्, अनुपश्यतः, निचाय्य, प्रत्यबुध्यत - इत्येवमादीनां सोपसर्गज्ञानार्थक-धातुप्रकृतीनाम् पदानाम् आत्मसाक्षात्कारात्मा सद्यो मोक्षप्रद इत्यर्थो गृह्यते आत्मसामान्यवेदनफलं विदेहमुक्तिं वदन्ति। अथ केचन - आत्मसाक्षात्कारफलन्तु जीवन्मुक्तिम्। यदीयः साक्षात्कारो मोक्षफलदः स एव एकः परमार्थभूतः सत्यः पदार्थः आत्मा। तस्यापरपर्यायः ब्रह्मशब्दः। आत्मा, दृग, चिद्, ज्ञानम्, बोधश्चेत्येवमादिर्यः शब्दः आत्मनः पर्यायतामश्नुते। आत्मा निर्विशेषः इत्युच्यताम्, ब्रह्म निर्विशेषमिति वा प्रोच्यतां न कश्चन भेदः। निर्विशेषे ईदृशः, तादृशः, यादृशः कीदृशः इति वा प्रयोगो न युज्यते। तत एव वस्तुतस्तदनिर्देश्यमिति[19] भर्तृहरिर्ब्रूते। महामहोपाध्यायाः आचार्यरामेश्वरझामहाशयाः तत एवाहुः शिवं स्तुवन्तः –

नासीदृशस्त्वं न च तादृशस्त्वं त्वं कीदृशोऽसीत्यनुयोगशून्यः।
त्वं यादृशोऽसीत्यपि नैव वक्तुं योग्योऽसि शम्भो त्वमसि त्वमेव।। इति[20]

जगतो मूलकारणम् अविद्येति मायेति वा प्रोच्यते। केचन अमुम् आत्मशक्तिं ब्रुवते। यतश्चास्याः पारमार्थिकसत्यता नास्ति तत एषा असतीति प्रोच्यते। व्यावहारिकी सत्यता यतश्चास्योविद्यते ततोऽसौ सती प्रोच्यते। तदेवं न सत्यतया न वा असत्यतया निर्वचनार्हा अविद्या माया वा जगदुपादानभूता अनिर्वाच्या प्रोच्यते।

ब्रह्मविद्ययैव निवर्त्या सकार्या अविद्या निवृत्ता भवतीति स्वयंज्योतिः साधकः शोकातिगो मोदतेतमाम् इति शम्।

सन्दर्भाः

1. ब्रह्मसूत्रम् - 2.1.27
2. श्रीपूर्णताप्रत्यभिज्ञा 1/301
3. ब्रह्म सू.-1.1.2
4. उपनिषद्वचनम्
5. उपनिषद्वचनम्
6. ब्रह्म सू० - 2.1.27
7. ब्रह्म सू० - 1.1.2
8. ब्रह्म सू० - 1.1.3
9. ब्रह्म सू० - 2.1.27
10. तदेव-2.1.27
11. तदेव - 2.1.27
12. भामतीवचनम्
13. मुण्डकोपनिषद् - 2/2/8,
14. कठोपनिपनिषद् - 8/15
15. बृहदारण्यकोपनिषद् - 4/4/6
16. छान्दोग्योपनिषद् - 8/12/13
17. श्वेताश्वतरोपनिषद्
18. मुण्डकोपनिषद् - 3.2.9
19. वाक्यपदीयवचनम्
20. महामाहेश्वरश्रीमदाचार्यरामेश्वरझावचनम्

चरकसंहितायामध्यात्मम्

· डॉ. अशोककुमारशतपथी*

शोधसारः

आत्मानं देहमिन्द्रियादिकं क्षेत्रज्ञं ब्रह्म वाऽधिकृत्य अध्यात्मं भवति। उक्तं श्रीमद्भगवद्गीतायाम् - "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।" विद्यासु अध्यात्मविद्या श्रेष्ठतरा विद्यते। आयुर्वेदग्रन्थेषु न केवलं शरीरविषयकं ज्ञानं वर्तते; अपितु आत्मविषयकतत्त्वानां पर्यालोचनं विद्यते। शोधपत्रेऽस्मिन् चरकसंहितायां केन रूपेण आत्मतत्त्वस्य विचारः निहितः वर्तते तस्य विवेचनं कृतमस्ति।

बीजशब्दाः

आयुर्वेदः, चरकसंहिता,सत्त्वम्, आत्मा, शरीरम्, लोकः, क्षेत्रज्ञः।

वेदादुद्धुतः आयुर्वेदः अखिलमानवसमाजस्य कल्याणाय एव। यद्यपि आयुर्वेदः ऋग्वेदस्योपवेदरूपेण प्रसिद्धः वर्तते तथापि केचन विद्वांसः आयुर्वेदमथर्ववेदस्योपाङ्गरूपेण स्वीकुर्वन्ति। स्वयं सुश्रुतः आयुर्वेदः अथर्ववेदस्य उपाङ्गः वर्तत इति उद्घोषयति। "इह खलु आयुर्वेदमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः।"[1] अपि चोक्तं चरकेन- "तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या, वेदो ह्याथर्वणो दान-स्वस्त्ययन-बलि-मङ्गल-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-मन्त्रादिपरिग्रहचिकित्सां प्राह, चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते।"[2]

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मनां संयोगः आयुर्भवति। तत्र आयुश्चेतनानुवृत्तिः जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः।

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।।[3]

आयुषः वेदः ज्ञानं वा आयुर्वेदः उच्यते। उक्तं यथा – "तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।"[4]

अनेन शास्त्रेण आयुषः हिताहितं सुखदुःखं आयुश्च ज्ञायते। अतः पुनरपि उच्यते – आयुर्वेदयतीति आयुर्वेदः। कथमिति चेत्, उच्येत – स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च यतश्चायुष्यानायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयतीति आयुर्वेदः।[5] शास्त्रेऽस्मिन् आयुरस्तीति कारणात् आयुरस्मिन् विद्यते इति व्युत्पत्तिं कर्त्तुं शक्यते। शास्त्रस्यास्य अध्ययनेन आयुः लभ्यते- अनेन

*सहायकाचार्यः,संस्कृतप्राकृतभाषाविभागः, लखनऊ विश्वविद्यालयः

वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यच्चोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।[6]

शास्त्रस्यास्य किं प्रयोजनमिति शङ्कायां तत्र केवलमातुराणां रोगिणां कृते एतच्छास्त्रं नास्ति। अपितु ये स्वस्थाः निरामयाः वा भवन्ति तेषां कृतेऽपि आयुर्वेदस्यावश्यकता वर्तते। उक्तं च चरकेन-"प्रयोजनं चास्य – स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च"।

अष्टाङ्गहृदयस्य रचयिता वाग्भट्टः लिखति –

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।।[8]

धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयानां साधनमायुरस्ति। शारीरिक-मानसिक तथा ऐहिक-पारलौकिकरूपेण सुखानि भवन्ति। सुखस्य साधनमपि आयुरेव। अतः आयुर्वेदस्याध्ययनं सर्वैः करणीयम्। आयुर्वेदस्य अध्येता स्वपरिवारजनानां स्वास्थ्यं रक्षन् तेषां विकारप्रशमने च प्रयत्नवान् भवति। यः आयुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति सः परमधार्मिकः भवतीति चरकेण प्रतिपादितमस्ति। अत्र प्रश्नरुदेति आयुर्वेदे अध्यात्मं किम्? तत्र उक्तं श्रीमद्भगवद्गीतायाम् - "अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।"[10] आचार्यशङ्करानुसारम् - "आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु स्वभावः भवति, तदेव अध्यात्ममुच्यते।"[11]

चरकसंहितायामध्यात्मज्ञानस्य सुष्ठु वर्णनं दृश्यते। चरकः प्रथमं जगतः लोकस्य वा स्वरूपं निर्णयन् पुरुषस्य स्वरूपं निरूपयति।

सत्त्वमात्माशरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वे प्रतिष्ठितम्।।[12]

सत्त्वम् आत्मा शरीरं च त्रीणि मिलित्वा लोकः(जगत्) भवति। सः लोकः त्रिदण्डवत् संयोगात् तिष्ठति अर्थात् यथा त्रिदण्डे त्रिपादिकायां वा त्रयः पादाः परस्परमुपरिस्थितेन वलयेन सम्बद्धाः सन्तः तस्य तस्याः वा घटादिधारणसमर्थां स्थितिमङ्गीकुर्वन्ति तथैव सत्त्वादि परस्परानुग्राहकत्वेन संयोगमहिम्ना सम्बद्धाः स्वस्थितिं धारयन्तीति। तत्र सर्वं च प्रतिष्ठितं भवति। अस्मिन्नेव लोके कर्म-ज्ञान-मोह-सुख-दुःखादयः प्रतिष्ठिताः भवन्ति।

अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता।। [13]

ततः पुरुषस्य लक्षणं यथा चरकानुसारं –

स पुमान् चेतनं तच्च तच्चाधिकरण स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितम्।। [14]

सुश्रुतानुसारं यथा - "अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं, कस्मात्? लोकस्य द्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः - स्थावरो जङ्गमश्च; द्विविधात्मक एवाग्नेयः

सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात्। पञ्चात्मको वा; तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः संस्वेदजजरायुजाण्डजोद्भिज्जसंज्ञः; तत्र पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्; तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम् ।।"[15]

चरकः चेतनाचेतनयोः स्वरूपमपि लक्षयति यथा-

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।।[16]

द्रव्याणि नव सन्ति। "तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाकालदिगात्ममनांसि नवैव।"[17] तत्रापि इन्द्रिययुक्तं द्रव्यं सचेतनं भवति, इन्द्रियरहितं द्रव्यं अचेतनमुच्यते। यद्यपि आत्मा चेतनः शरीरमिन्द्रियाणि च अचेतनानि भवन्ति तथापि तावत् आत्मनः चैतन्यं न प्रतिभाति यावत् इन्द्रियैः सह आत्मनः संयोगः न भवति। इन्द्रियाणि ज्ञानोपलब्धये साधनानि सन्ति। साधनं विना साध्यस्य सिद्धिर्न भवति, यथा दण्डचक्रं विना कुम्भकारः घटं निर्मातुं न शक्नोति। अतः सेन्द्रियं द्रव्यं चेतनं भवति। आत्मा निष्क्रियः स्वतन्त्रः सर्वगः वशी च भवति।

निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च वशिनं सर्वगं विभुम्।
वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा।।[18]

आत्मनः ज्ञानोपलब्धिः साधनरूपैः इन्द्रियैः सह संयोगेन एव भवति। इन्द्रियैः सह आत्मनः संयोगादनन्तरमात्मा ज्ञानयुक्तः भवति। तदेव आत्मनः चैतन्यं वर्तते। उक्तं यथा-

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते।
तदयोगादभावाद्वा करणानां निवर्तते।।[19]

ज्ञानोपलब्धिं विना प्रत्येकं द्रव्यमचेतनमेव भवति। आत्मा एकाकी कस्मिन्नपि कर्मणि प्रवृत्तः न भवति। संसारसंयोगेन आत्मा कर्मफलं भुङ्क्ते।

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन।।[20]

सांख्यकारिकायामुक्तम्-

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥[21]

यथा स्त्री-पुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्ततः प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः। भोगमोक्षयोः कृते संयोगः महत्तत्वादीन् सृजति। पुनश्च आत्मनः नित्यत्वानित्यत्वविचारप्रसङ्गे उच्यते-

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा।।[22]

हेतुभूतात् उत्पन्नः पुरुषः अनित्यः भवति। यद्द्रव्यं सदस्ति परंतु कारणं तस्य न वर्तते तत् नित्यं भवति। उत्पत्तिधर्मेण रहितं नित्यमुच्यते। आत्मा अव्यक्तः क्षेत्रज्ञः विभुः अव्ययश्च वर्तते। "अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शास्वतो विभुरव्ययः"[23] क्षेत्रस्य अर्थात् शरीरस्य ज्ञाता आत्मा एव वर्तते। उक्तं च गीतायाम्-

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।[24]

एवं चरक-सुश्रुत-वाग्भट्टसंहितासु रोगस्य कारणं-भेदाः-निदानं च उपलभ्यन्ते। अधिकञ्च इहलोक-परलोकयोः विचारोऽपि सम्यग्रूपेण वर्णितः अस्ति। अतः शास्त्रस्यास्य अध्ययनेन शरीरस्य मनसश्च विकारः दूरीभवतीति मे द्रढीयान् विश्वासः।

सन्दर्भाः

1. सुश्रुतसंहिता 1.1.5
2. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 30/21
3. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.41
4. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.42
5. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 30.20
6. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.40
7. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 30.24
8. अष्टाङ्गहृदयम् 1.2
9. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 30.27
10. श्रीमद्भगवद्गीता 8.3
11. श्रीमद्भगवद्गीता, शांकरभाष्ये
12. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.45
13. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1.36
14. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.46
15. सुश्रुतसंहिता 1.1.22
16. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.47
17. तर्कसंग्रह 2
18. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1.4
19. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1.53
20. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1.56
21. सांख्यकारिका 21
22. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1.58
23. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 1.64
24. श्रीमद्भगवद्गीता 13.2
25. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.54
26. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 1.57

वैदेशिकाटनमहाकाव्यानुसारं विदेशेष्वातिथ्यम्

· डॉ. प्रतापकुमारमेहेरः

शोधसारः

विदेशेष्वप्यातिथ्यस्य महत्त्वं दिनानुदिनं कथं परिवर्धते इति सर्वमपि विषयमत्र स्पष्टतया उल्लिखितं वर्तते। अस्माकम् आर्यसंस्कृतौ पुरातनाः संस्कारमूलभूताः ऋग्यजुस्सामथर्वणवेदाः चत्वारः सन्ति । सर्वत्र आतिथ्यस्य महिमा वर्णितास्ति। विदेशेष्वपि अस्याः भारतसंस्कृतेः नाम आतिथ्यस्य माहात्म्यम् सर्वत्र परिलक्षितमिति शोधपत्रस्यास्य वैशिष्ट्यम्। 'अतिथिःदेवो भव'– इत्युपनिषदः वाक्येन कथं ते वैदेशिकाः सन्निबद्धाः इति प्रमाणरूपेण विरचितं पत्रमिदम्।

बीजशब्दाः

आतिथ्यम् , भारतसंस्कृतिः, सदाचारः, आत्मभावः, परम्परा, विश्ववन्धुत्वभावना।

सदाचारेषु आतिथ्यम्

सतां सज्जनानाम् वा आचारः सदाचारः। 'आचारः परमो घर्मः'[1] इति मनुस्मृतौ प्रमाणीक्रियते। भिन्नार्थे सद्गुणयुक्तोऽऽचारः सदाचार इति परिज्ञायते। सदाचारस्य महत्वविषये महाभारते प्रमाणितमस्ति –

सदाचाराद् यशो लोके सदाचारात्सुखं दिवि।
सदाचारातद् भवेन्मोक्षः सदाचारो हि कामधुक्।।[2]

अतः अतिथिसेवाक्षेत्रे वैदेशिकानां सदाचारविषये कविः वहुत्र समाजमुपदिशति। कवेः अनुभवे विदेशे नागरिकाणां सदचारज्ञानं नैव साधारणम् । यथा यजुर्वेदे प्रकाशितं वर्तते –

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ।।[3]
यस्मिन्सर्वाणि भूतानन्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।[4]

ऐक्यभावः प्रत्यकमपि मानवं उच्चस्थानं प्रति नयति इति शास्त्रोपदेशः। एतदनुसारं स्वकार्यार्थं वहिर्प्रदेशात् समागतानाम् अतिथिनां कृते वैदेशिकानाम् आत्मभावः सर्वदा परिलक्ष्यते एव।

*शैक्षिकपरामर्शदाता, ओडिशाराज्यमुक्तविश्वविद्यालयः, सम्बलपुरम्, ओडिशा

अतिथिपूजनम् –

वैदेशिकाटनमहाकाव्यस्य रचयिता कविः प्रो. हरिददत्तशर्म महाभागः संस्कृतस्य सेवार्थं शर्मणीं (जर्मनीं) प्रत्यगच्छत्। तदा तत्र पश्चिमसंस्कृतीनां भव्यं मास्को-विमानस्थलं अवलोक्य अपरस्मिन् प्रभाते शर्मण्यदेशीयमतीव रम्यं शोनफील्डं विमानपट्टं प्राप्तवान्। तदा कवेः सुस्वागतार्थं सोर्गेलनाम्नी काचित् महिला समागत्य श्रद्धया अभ्यागतवासकक्षं प्रति तान् निनाय।प्रमाणस्वरूपं शर्मण्य-प्रयाणम् इति प्रथमसर्गस्य एकविंशति श्लोके कविः लिखति –

सोर्गेलनाम्नी महिला समायान् मदीय-सुस्वागत-कार्यहेतोः ।
नीतस्तयाऽऽभ्यागतवासकक्षं मार्जाननाम्न्यां वसतौ नवायाम् ।।[5]

एतस्मात् ज्ञायते अतिथिसत्कारक्षेत्रे कथं तेषां व्यवहारो अभूदिति। विदुषां चित्रमालामिमां दर्शनाय सा महिला सत्कारवाचा कविमभिनन्दितवती।

तस्या एतादृशी व्यवहारः, तत् प्रदेशजनानामतिथिपूजनस्य पारङ्गमतां प्रदर्शयति। अपि च सः कविना साकं स्थित्वा विभागस्य सामग्रिकवर्णनं कृत्वा स्वशोधकार्यं कथयामास। विभागे तत्र संस्कृतशिक्षणस्य गुरुः रोथोमहोदयरभूत्। रोथोमहाभागेन शर्ममहाभागस्य स्वागतमतीव स्नेहपूर्णभावेन कृतम्। भवनस्य प्रवेशादनन्तरं तत्रत्यविंशतिशिक्षकैः सह एतस्य परिचयोऽपि संजातः। अतः कविः स्वीयमुखेन तेषामतिथिसत्कारस्य विषये उवाच–

सत्कारपूर्वं भवनं प्रविष्टः सुस्वागते गौरवमन्वभावि ।
अध्यक्षवर्यैः परिचायितोऽहं सार्धं पुनर्विंशतिशिक्षकैस्तैः।।[6]

तेषां संस्कृतस्याभिरुचिः तथा सांस्कृतिकव्यवहारः सर्वदा मनमुग्धकरो भाति। वक्रोक्तिजीविते उच्यते–

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सद्काव्याधिगमादेव नूतनमौचित्यमाप्यते ।।[7]

पूर्वजर्मनदेशभागे वसन् अनन्तरं पश्चिमभागं द्रष्टुमभिदेशं यात्रां चकार। वैदेशिकविदुषा हान-महोदयेन निमन्त्रितः सन् प्रो.हरिदत्तशर्ममहाभागः तस्य गृहे संस्कृतगीतिगानमकरोत् ।

एकदा जर्मनी-देशे स्वयात्रारूपकमनुसन्धानं निर्वाह 'लाइडिन विश्वविद्यालये' (Leiden University) समायोजिते 7th World Sanskrit Conference कार्यक्रमे योगदानार्थं नीदरलैण्डदेशस्य लाइडिनं पुरं प्रति गतवान् कविः। तदा तत्र दूरदेशीयानां कृते वासव्यवस्थाया परिकल्पना चारुतया कृता संलक्ष्यते इति कविना प्रमाणीकृतम्। ते दूरदेशीयवन्धुजनानां सेवार्थं सर्वदैव अग्रगण्या इति प्रतिभान्ति। एतदेव कविः प्रकाश्य उल्लिखति –

समागतो लाइडिनं पुरं हं सुप्रापितो विश्रम-वासगेहम् ।।[8]

पारम्परिकक्षेत्रेऽपि तेषां व्यवहारिकज्ञानं समुचितमासीत्। अनेकचर्चासु सर्वदा निमज्जिताः भवन्ति। भारतीयसंस्कृतेः प्रभाववशात् सम्मेलनस्यान्तिमशृङ्खलायां मधुरमुपहारोऽपि प्रदीयते स्म। कथं

वैदेशिकसंस्कृतपण्डिताः सर्वकार्येषु सहायकाः भवन्ति, तस्योदाहरणस्वरूपे महाकाव्येऽस्मिन् द्रष्टुं शक्यते यत् – कविः 'विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोगेन' चितो भूत्वा फ्रान्स इत्यस्य राजधानीं 'पेरिसं' प्तति बभ्राम। तत्र फ्रान्सदेशस्य संस्कृतपण्डितः महान् विन-ज्याँ-फिलियोजपुत्रः फिलियोजेन साकं मिलितः। अनेन सह कविः तत्र स्थितं राष्ट्रियग्रन्थालयं प्रति जगाम। यत्र प्राच्यविद्यायाः वहूनि पुस्तकानि शोभन्ते। कविः स्वयं वहु पाठ्यहस्तलिखितान् संगृहीतवान्। एततसर्वमपि फिलियोज-महोदयस्य वशादेव सम्भवपरोऽभूत्। वैदेशिकाः छात्रा अपि अतीव सहायकशीला आसन्। एकदा कविना एकया छात्रया साकं तस्याः यानेन गत्वा पेरिसनगरस्थं 'वर्साइलं' रुचिरराजगृहं च परिदृष्टम्।

सुकन्याः पारम्परिकैः सुवेषैः विनम्रभावैः च बहुपुष्पगुच्छया साकं दूरदेशात् समागतानाम् अतिथीनां स्वागतं कुर्वन्ति स्म । अतः प्रकाश्यते –

कन्याश्च पारम्परिकैः सुवेषैर्विनम्रभावैरभिनन्दनं ताः।
कुर्वन्ति मोदेन समागतानां शोभा ह्यहो साञ्जलिसुन्दरीणाम्।।[9]

तेषामतिथिसत्कारस्य सद्भाव इतः परिज्ञायते। थाइदेशे निवसन् नवपर्यटनं प्रति प्रत्यक्ष्यमाणे समये प्रो.शर्मामहोदय एशियामहादेशस्य सुललामभूतं सिङ्गापुरं प्रति बभ्राम ।सिङ्गापुरेऽपि भारतस्य संस्कृतिः सुचारुतया परिलक्षिता शोभते । आतिथ्यस्य समुचितं ज्ञानं तत्रस्थ जनेषु वर्तते एव । कविः उदाहरणपूर्वकं स्वानुभवं प्रकटयन् कथयति–

मित्रेण चैकेन सुसंस्कृतेन निमन्त्रितोऽहं वचनं प्रदातुम् ।
श्रीरामकृष्णाश्रमसन्निधाने सत्सङ्गमः सैष सदाभिवन्द्यः ।।[10]

अत एव रामराज्यभूतमालिङ्गनपूर्वकम् अतिथिसत्कारेण स्वीयसंस्कारस्य पराकाष्ठां प्रदर्शयति अयं देशः। अतिथिसत्काररूपकं ज्ञानं वैदेशिकानां समीपे नितरां वर्तते इत्यस्मात् परिज्ञायते। वैदेशिका उल्लास-संलापरसेषु मग्नाः भवन्ति। अतिथीनां मनोविनोदनार्थं रम्यस्थलानां दर्शनं कारयन्ति। नानासभापक्षतः सादरपूर्वकं निमन्त्रणं च कारयित्वा अतिथिजनानां यथोचितसम्मानं क्रियते। हितोपदेशस्य वचनानुसारं यथा –

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।[11]

एतदनुसारं वैदेशिकजना अस्यां विश्वबन्धुत्वभावनायां सर्वदैव निवद्धिता बभूवु इति सिद्धम् ।

पूर्वपुरुषाणां स्मरणम्

भारतीयसंस्कृतौ पूर्वजानां स्मरणं पुण्यमिति प्रमाणितम्। एवमेव भारतीयसंस्कृतिप्रभावेन प्रभाविताः वैदिशेकाः अपि स्वपूर्वजानां स्मरणाय प्रसिद्धस्मारकप्रभृतीनां नामकरणं पूर्वजैः नाम्ना कुर्वन्ति। यथा शर्मण्यदेशे बर्लिने नगर्यां 'हम्बोल्टविश्वविद्यालयः' वर्तते। विश्वविद्यालयोऽयं हम्बोल्टनामक कस्यापि प्रसिद्धविदुषः नाम्नैवाङ्कुरितोऽस्ति। तत्रत्य विश्वविद्यालयानां विभागेषु पूर्वाचार्याणां स्मारकं यथास्थाने शोभते। कविः यदा हम्बोल्टविश्वविद्यालये स्थितं भव्यैशियाकेन्द्रं प्रति चचाल , तदा तत्रापश्यत् यत् – फ्राञ्जबाप – वेबर – पिशेलो – वाल्टेररूबेनादि विज्ञपुरुषाः ये विभागसेवां क्रमेण चक्रुः तेषां सर्वेषां चित्रमाला स्थाने स्थाने

विराजते। यथा कविः स्ववचसा प्रमाणयति –

तस्यैव कक्षे हि विराजते स्म सुचित्रमाला सुधियां समेषाम् ।।[12]

तथैव कार्लमार्क्स नामक विचक्षणवुद्धिसम्पन्नस्य नामानुसारं कार्लामार्क्सविश्वविद्यालयश्चावस्थितोऽस्ति। विदेशे पूर्वपुरुषाणां गुणगाने कुत्रापि न्युनत्वं न परिलक्ष्यते। जर्मन्याः 'हाले' नामके नगरे मार्टिनलूथराऽऽख्यः रुचिपूर्णः विद्यालयः प्रस्थापितः। पूर्वपुरुषाणां स्मृतौ स्मारकसंग्रहालयाः वर्तन्ते। 'पुश्किन-शेक्सपीयर' इत्यादिनां विदुषां मूर्त्तिरूपञ्च निर्मितमस्ति।

सर्वत्र पूर्वजानां स्मरणं यथोचितभावेन क्रियते। फ्रान्से समुद्भूतानां संस्कृतविदुषां नामानि सर्वदैव जनस्मृतिपटले दोलायमानानि सन्ति। पेरिस्-पर्यटनवेलायां कविना ज्ञातं यत् – सिल्वान – लेवि – लुइरेनु – आर्मण्ड – लूडविक् – ज्याँ – फिलियोजसंज्ञकाः संस्कृतज्ञाः फ्रान्से भुवि बभूवु इति। थाईदेशे चम्लोङ्ग सर्फङ्नुकनाम विद्वान् अस्ति , येन मूलसंस्कृतस्य थाईभाषायां छात्रोपयोगीनि बहूनि पुस्तकानि रचितानि। अस्मात् कारणात् अस्य नाम तत्र सुविदितं वर्तते । पूर्वजानां स्मरणपूर्वकं तत्र गुरु-शिष्य परम्परा सुरक्षिता सुशोभिता च वर्तते।

पुनश्च कविः २००१ संवत्सरे युरोपमहादेशस्य प्राज्ञदेशम् इटलीं प्रति जगाम। इटली देशे तत् देशस्य विदुषां नामानि सुचारुतया सर्वत्र भान्ति। इटलीदेशे गोरेशिया नाम विद्वान् संस्कृतपीठमेकम् अस्थापयत्।टूची, ग्नोली, बोकली चादि संस्कृतमनीषिणोऽपि बभूवुः। एतेषां सम्मानाय तस्मिन् देशे वहुत्र तेषां प्रतिमूर्तिस्थापनं पुण्यस्मरणमपि भवति। इतः ज्ञायते पूर्वप्रसिद्धसंस्कृतविदुषां सम्माने तेषां ख्याते चर्चा क्रियते।

उपसंहारः

भारतीयसंस्कृतेः प्रभावः विश्वे भिन्नभिन्नदेशेषु कथम् अनुसरणं भवति इति पत्रस्यास्य पठने सुष्ठु ज्ञातुं शक्यते। आतिथ्यं केवलं जीवितानां कृते तथा वहिस्थात् समागतानां कृते क्रियते इति चेत् न। अपितु मृतपुण्यात्मानाम् आत्मीयानामपि च कथमातिथ्यं विधीयते तत्सर्वम् पत्रेऽस्मिन् प्रमाणीक्रियते । विदेशेषु अन्येषाम् आत्मीयानां वा कृते आतिथ्यं स्पष्टं परिलक्ष्यते। अतः शोधपत्रेऽस्मिन् भारतसंस्कृतेः महत्वं दिनानुदिनं कथं परिवर्धते इति सर्वमपि विषयं स्पष्टतया उल्लिखितं वर्तते।

सन्दर्भाः

1. मनुस्मृतिः १.१०८
2. महाभारतम्
3. यजुर्वेदः ४.६
4. यजुर्वेदः ४.७
5. वैदेशिकाटनमहाकाव्यम् १.२१
6. वैदेशिकाटनमहाकाव्यम् १.३३
7. वक्रोक्तिजीवितम्
8. वैदेशिकाटनमहाकाव्यम् ४/६
9. वैदेशिकाटनमहाकाव्यम् १२.९
10. वैदेशिकाटनमहाकाव्यम् १३.१०
11. हितोपदेशः १.६९
12. वैदेशिकाटनमहाकाव्यम् १.२८

सुपद्मव्याकरणानुसारेण 'णिति वृद्धिरचामादेः', 'इणो य्वोरस्वागतादेरैयौवौ' इति सूत्रद्वयस्य विमर्शात्मकम् अध्ययनम्

· अभिजित् साहा*

शोधसारः

पद्मनाभदत्तविरचितं सुपद्मव्याकरणं पाणिनीयव्याकरणानुयायि सद् अपि शिक्षार्थिनां सरलोपायेन लाघवेन च लौकिकव्याकरणस्य अवबोधाय पाणिनीयव्याकरणात् शरीरेण भूरि भिद्यते। सुपद्मस्य तद्धितप्रकरणे विलसत् सूत्रद्वयम् आलम्ब्य अयं प्रबन्धः। पाणिनीयव्याकरणे ञिति, णिति च तद्धिते परे अङ्गस्य आदिवृद्धिविधायकं सूत्रम् अस्ति। तथा च, यकार-वकाराभ्याम् उत्तरम् ऐजादेशविधायकं सूत्रं वरीवर्ति। सुपद्मव्याकरणस्य रीतिः पाणिनीयरीतेः विलक्षणा। कथं सुपद्मे सूत्रशरीरं, किं च तस्य पाणिनीयसूत्रेण साम्यं वैषम्यं वा इति विचार्यते प्रकृते प्रबन्धे।

बीजशब्दाः

सुपद्म, अष्टाध्यायी, सुत्रम्, णिति, वृद्धिः, अचाम्, इणः, ऐयादेशः।

व्याकव्याकरणेषु पाणिनीयव्याकरणस्य प्राधान्यं सर्वैः ज्ञातम्। पाणिनीयपद्धतौ अष्टाध्यायी-वार्तिक-महाभाष्यैः सह काशिकादीनाम् आनुषङ्गिकग्रन्थानां प्रामुख्यं प्रतिपादितम् अस्ति। परवर्तिकाले ख्रिष्टीयप्रथमशताब्द्यां शर्ववर्मणः कातन्त्रव्याकरणरचनया साकं संस्कृतव्याकरणस्यैका स्वतन्त्रधारा प्रवाहिता। शिक्षार्थिभ्यः सरलोपायेन लाघवेन च लौकिकव्याकरणम् अवबोधयितुम् अस्याः धारायाः आविर्भावोऽभवत्। ख्रिष्टीयचतुर्दशशताब्दीं यावद् एषा धारा निरवच्छिन्नतया प्रवाहिता विभिन्ननाम्ना। ते यथा– कातन्त्रः, चान्द्रः, जैनेन्द्रः, हैमः, मुग्धबोधः, सारस्वतः, सरस्वतीकण्ठाभरणम्, सुपद्मम्, संक्षिप्तसारः इत्यादयः। पाणिन्युत्तरयुगस्यैतेषु संस्कृतव्याकरणेषु पद्मनाभदत्तस्य सुपद्मव्याकरणं विशिष्टस्थानं लभते। अधुना सुपद्मकारस्य विषये समासेन विवर्यते।

पद्मनाभदत्तस्य परिचयः

भोरग्रामनिवासी मैथिलब्राह्मणः पद्मनाभदत्त आसीत् दामोदरदत्तस्य पुत्रः। सुपद्मसम्प्रदायस्य पृषोदरादिवृत्तिरिति ग्रन्थस्य रचयिताऽपि पद्मनाभदत्तः। परन्तु स आसीत् सुपद्मकृद्भिन्नः स्वतन्त्रो जनः इति

*शोधच्छात्रः, व्याकरणविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः

बेलवलकारमहोदयेन प्रतिपादितम्। तस्य पिता गणेश्वरः पितामहश्च श्रीपतिः। सुपद्मकारस्य परिभाषावृत्तिग्रन्थे वैयाकरणस्यास्य वंशपरिचयः प्राप्यते। वंशपरम्परायां राज्ञः विक्रमादित्यस्य सभापण्डितः सर्वशास्त्रविशारः वररुचिरासीत् तस्य पूर्वपुरुषः। परन्त्वीदानीं स ग्रन्थः लुप्तः। कालीजीवनदेवशर्मणा स्वग्रन्थे परिभाषावृत्तेः कियदंशः उपस्थाप्यते। तदनुसारम् अधः तस्य वंशक्रमो दीयते–

१. वररुचिः (कालिदाससमकालिकः) २. न्यासदत्तः (महाभाष्यस्य अर्थतत्त्वविद्)
३. दुर्घटः (पाणिनेः अर्थतत्त्वविद्) ४. जयादित्यः(मीमांसाशास्त्रज्ञः)
५. श्रीपतिः(सांख्यशास्त्रविशारदः) ६. गणेश्वरः (काव्यशास्त्रे पण्डितः)
७. भानुभट्टः (रसमञ्जरीत्यस्य रचयिता) ८. हलायुधः (वेदमन्त्राणाम् अर्थतत्त्वविद्)
९. श्रीदत्तः (स्मृतिशास्त्रे पारङ्गतः) १०. भवदत्तः (वेदान्तविज्ञः)
११. दामोदरः (काव्यशास्त्रकर्ता) १२. पद्मनाभः (सुपद्मव्याकरणस्य स्रष्टा)

एतदनुसारं पद्मनाभस्य पिता दामोदरदत्तः पितामहश्च भवदत्त इति। लोकमणिदाहालमहोदयस्य मतेन तस्य पिता दामोदरदत्तः, परन्तु श्रीदत्त आसीत् पितामहः।

पद्मनाभदत्तस्य कालः

पद्मनाभदत्तस्य समयः चतुर्दशशतकम् इति कालीजीवनदेवशर्मणः मतम्। युधिष्ठिरमीमांसकेनापि तदङ्गीकृतम्। व्याकरणशास्त्रेतिहासानुसारेण तस्य कालः विक्रमानन्तरं पञ्चदशशताब्दीति। पृषोदरादिवृत्तिः इति ग्रन्थे पद्मनाभेन स्वयमेव स्वकालविषये उक्तम्–

शाके शैलनवादित्ये चैत्रे मासि रवेः स्थितौ।
द्विजेन पद्मनाभेन भाषासूत्रमिदं कृतम्।।

अर्थात् १२९७ शकाब्दस्य चैत्रे मासे (१३७६ ख्रिष्टाब्दे) द्विजः पद्मनाभो ग्रन्थम् इमं विरचितवान्।

सुपद्मव्याकरणस्य स्वरूपम्

पद्मनाभदत्तः सूत्राकारेण सुपद्मव्याकरणं विरचितवान्। सूत्रं स्वल्पाक्षरं भवेत्। तदर्थं पद्मनाभदत्तेन प्रत्याहारा गृहीताः। अष्टाध्यायीमाधारीकृत्य विरचिते व्याकरणेऽस्मिन् पाणिनीयप्रत्याहारा एव स्वीक्रियन्ते। अध्याय-पाद-सूत्रसंख्याक्रमेण व्याकरणमिदं प्रणीतम्। सुपद्मव्याकरणे पञ्चाध्यायाः सन्ति। प्रत्येकम् अध्यायः चतुर्षु पादेषु विभक्तो अस्ति। सम्पूर्णं सुपद्मव्याकरणम् अष्टाधिकद्विसहस्रसंख्यकसूत्रसमन्वितम् अस्ति यत्र प्रकरणानुसारेण विषयाः उपन्यस्यन्ते।

सुपद्मव्याकरणस्य पञ्चमाध्यायस्य प्रथमपपादे तद्धितप्रकरणं विराजते। तद्धितप्रकरणान्तर्गतस्य "णिति वृद्धिरचामादेः", "इणो ग्वोरस्वागतादेरैयौवौ" इति सूत्रयोः विमर्शात्मकम् अध्ययनम् इति प्रबन्धोऽयं प्रस्तूयते मया।

णिति वृद्धिरचामादेः

वृद्धिविधायकं सूत्रमिदम्। सूत्रेऽस्मिन् चत्वारि पदानि सन्ति। णिति इति सप्तम्यन्तं पदम्। वृद्धिः इति प्रथमान्तं पदम्। अचाम् इति षष्ठ्यन्तं पदम्। आदेः इति षष्ठ्यन्तं पदम्। 'तद्धिते'[1] इत्यधिकारे पठितमिदं सूत्रम्। एवञ्च तद्धिते णिति अचाम् आदेः वृद्धिः इति पदच्छेदो जायते। सुपद्मकारेण सूत्रार्थः कृतः– 'णिति तद्धिते

परे प्रकृतेरचां मध्ये आदेरचो वृद्धिः स्यात्।' अर्थात् यदि कस्मिंश्चित् तद्धितप्रत्यये णकार इत्संज्ञकोऽस्ति, तर्हि प्रकृतेः अज्वर्णानां प्रथमस्य अचः वृद्धिः भवेद् इति सूत्रार्थः। अत्र प्रकृतिः इत्यस्य कोऽर्थः इत्याकाङ्क्षायां टीकायामुच्यते– 'प्रत्ययात् पूर्वं क्रियत इति प्रकृतिः, प्रत्ययमवधिं कृत्वा यत् पूर्वमुपादीयते सा प्रकृतिरिति प्रसिद्धमेवैतत्।'

सुपद्मकारेणोदाह्रियते– गार्ग्यः। गर्गस्य गोत्रापत्यम् इत्यर्थे गर्ग इत्यस्मात् 'गर्गादिभ्यो यण्'[2] इत्यनेन यण्प्रत्यये 'चिह्नार्थमित्'[3] इत्यनेन णकारस्य इत्संज्ञायां इतो लोपः इत्यनेन इत्संज्ञकस्य लोपे गर्ग य इति जाते 'णिति वृद्धिरचामादेः'[4] इति सूत्रेण गर्ग इति प्रकृतेः आद्यचः अकारस्य वृद्धौ गार्ग य इति स्थिते 'यस्य'[5] इति सूत्रेण भसंज्ञकत्वात् तद्धिते परे अकारलोपे वर्णसम्मेलने गार्ग्य इति रूपं सिध्यति।

सूत्रे अचाम्, आदेः इति षष्ठ्यन्तं पदद्वयं वर्तते। तत्र अचाम् इति पदं प्रकृतौ विद्यमानानाम् अज्वर्णानां निर्देशकः। तेषु अज्वर्णेषु आदौ विद्यमानम् अज्वर्णं वृद्धिसंज्ञकं स्यात् इति सूत्रार्थः। अतः अत्र वृद्धिसंज्ञया अज्वर्णाणाम् एकदेशस्य (आद्यचः) पृथक्करणात् अचाम् इत्यत्र निर्धारणे षष्ठी स्यात्। सूत्रस्य अपरं षष्ठीविभक्तियुक्तं पदम् अस्ति– आदेः। आदेः इत्यत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी स्यात्। तेन षष्ठी अत्र स्थानेयोगा भवति।

सूत्रे अचाम् इति पदस्य तात्पर्यं किमित्याकाङ्क्षा जायते। यतः आदेर्वृद्धिः भवति इत्युक्ते आद्यचः वृद्धिः स्यात्, व्याकरणशास्त्रे अज्वर्णैः सह वृद्धिप्रसङ्गः सङ्गच्छत्वात्। परन्तु तत्र पुनराक्षेपो जायते यत्– आद्यन्तवदेकम् इति न्यायानुसारेण यत्र एक एव अज्वर्णः विद्यते, तत्रापि वृद्धिप्रसङ्ग आयाति। तत्र समाधानम् अस्ति– 'यस्य' (सुपद्म-५.१.४४) इत्यनेन लोपकार्यं भवेत्।

अपि च समासेऽपि पूर्वपदस्य वृद्धिकार्यं सम्पादनार्थं सूत्रे अचाम् इति पदस्य उपस्थापनम् अत्यावश्यकम्। यथा– उपगोः अपत्यम् इति विग्रहे 'तस्यापत्यम्'[6] इत्यनेन अणि प्रत्यये परे वृद्धिविषये उपस्थिते कस्य वृद्धिर्भवति– उप इत्यस्य गु इत्यस्य वा इत्याकाङ्क्षा वर्तते। तत्स्पष्टीकरणार्थं सुपद्मकारेण सूत्रे अचाम् इति पदम् उपस्थाप्यते। तस्मात् पूर्वपदरूपेण विद्यमानस्य उप इत्यस्य वृद्धौ औपगव इति इष्टरूपं सिध्यति।

क्वचित् वृद्धिप्रसङ्गे सत्यपि वृद्धिकार्यं न भवति इति शङ्का टीकाकारेणोल्लिख्यते। यथा– ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थः इति विग्रहे ज्योतिषम् इति पदं निष्पद्यते। अत्रापि औपगव इतिवत् पूर्वपदस्य वृद्धिः भवेत् इति प्रश्नः उदेति। तद्विषये परिभाषा वर्तते– "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः।" तस्यार्थविषये उच्यते– 'संज्ञैव पूर्वा यस्य विधेः सोऽनित्यो भवति।' अतः अत्रापि संज्ञाविधेः अनित्यत्वात् वृद्ध्यभावः परिदृश्यते।

विमर्शः

पाणिनीयतन्त्रे अस्मिन् विषये सूत्रमस्ति– 'तद्धितेष्वचामादेः'[7]। ञिति णिति च तद्धिते परे अङ्गस्य आदिस्वरस्य वृद्धिः भवतीति सूत्रार्थः। अर्थात् पाणिनिनये ञित् णित् इति तद्धितद्वयं स्वीक्रियते। अपि च येन शब्देन सह तद्धितप्रत्ययस्य योगो भवेत् तस्य शब्दस्य अङ्ग इति संज्ञा जायते। यतः 'अङ्गस्य'[8] इत्यधिकारे सूत्रमिदं पठितम्।

सुपद्मव्याकरणे ञित्प्रत्ययो नास्ति। अतः प्रत्ययग्रहणेऽपि सुपद्मनये लघुता परिदृश्यते। तथा च अङ्गाधिकारस्य अविद्यमानत्वात् सूत्रसंख्याया न्यूनताऽपि विद्यते। तर्हि कस्य आद्यचः वृद्धिः भवति– प्रत्ययस्य उत प्रकृते? तत्स्पष्टीकरणार्थं सूत्रार्थे प्रकृतेः इति पदं पद्मनाभदत्तेन योजितम्।

इणो य्वोरस्वागतादेरैयौवौ तद्धितविधायके

सूत्रेऽस्मिन् चत्वारि पदानि सन्ति। इणः इति षष्ठ्यन्तं पदम्। य्वोः इति षष्ठ्यन्तं पदम्। अस्वागतादेः इति षष्ठ्यन्तं पदम्। ऐ-यौवौ इति प्रथमान्तं पदम्। स्वागत आदौ यस्य स बहुव्रीहौ स्वागतादिः। न स्वागतादिः नञ्तत्पुरुषे अस्वागतादिः, तस्मात् अस्वागतादेः। 'तद्धिते'[9] इत्यधिकारे सूत्रमिदं पठितम्। 'णिति वृद्धिरचामादेः'[10] इति सूत्रात् णिति, अचाम्, आदेः एतानि पदानि अनुवर्तन्ते इह। अतः सूत्रशरीरं भवति– इणः य्वोः ऐयौवौ अस्वागतादेः णिति तद्धिते अचाम् आदेः। प्रकृते इणः इति स्थानषष्ठी। तेन इणः स्थाने विहितयोः य्वोः इति अर्थः सम्पद्यते। एवञ्च सूत्रार्थो भवति– प्रकृतेः अचाम् आदेः स्थितस्य इणः स्थाने आदिष्टस्य यकारस्य स्थाने ऐय्, वकारस्य स्थाने च औव् इत्यादेशः स्यात् णिति तद्धिते परे। सुपद्मकारेण सूत्रार्थः कृतः– 'अचामादेरिण आदेशयोर्यकारवकारयोः स्थाने ऐयौवौ स्याताम्।'

ऐयादेशस्योदाहरणमस्ति– वैयाकरणः। व्याकरणम् अधीते वेद वा इति विग्रहे व्याकरण इत्यस्मात् तदधीते वेद वा[11] इति सूत्रेण अणि वकारात् अव्यवहितोत्तरस्य इण्प्रत्याहारान्तर्गतस्य यकारस्य स्थाने इणो य्वोरस्वागतादेरैयौवौ[12] इत्यनेन ऐय् इत्यादेशे वर्णसम्मेलनेन वैयाकरण इति सिध्यति। तस्मात् स्वादिकार्ये पुंसि वैयाकरणः इति रूपं जायते।

विमर्शः

सूत्रे अस्वागतादेः इति पदस्य तात्पर्यं किमित्याकाङ्क्षा जायते। तत्रोत्तरम् अस्ति– स्वागतादिगणे पठितेषु शब्देषु एषो नियमो न प्रवर्तते। इह स्वागतं व्याहरति इति विग्रहे स्वागत-शब्दात् 'तदाहेति माशब्दादेः'[13] इति सूत्रेण स्वागतशब्दात् टिकण् प्रत्ययः भवति। अत्र प्रकृतसूत्रेण वकारस्य स्थाने औव्-आदेशः प्राप्नोति। किन्तु स्वागतादिगणपठितस्य औवादेशः न भवति। तेन 'णिति वृद्धिरचामादेः'[14] इति सूत्रेण आकारस्य वृद्धौ स्वागतिक इति रूपं सिध्यति।

इत्थं व्यवहारेण चरति इति विग्रहे व्यवहारशब्दात् टिकन् प्रत्यये व्यावहारिक इति पदं सिध्यति।

अत्र पूर्वपक्षी आक्षिपति यत्, स्वागत इत्यत्र सकारोत्तरवर्ती वकारः उकारस्य स्थाने विहितः। तर्हि स्थानिवद्भावेन सकारोत्तरवर्तिनः वकारस्य स्थानिनः उकारस्य स्थाने वृद्धिः आदेशः स्यात्। किन्तु अत्र "आदेशः स्थानिवत् क्वचित्" इति वचनानुसारं लक्ष्यानुरोधेन यत्र अपेक्षा वर्तते तत्रैव स्थानिवद्भावः भवति। प्रकृते स्थानिवद्भावे कृते अनिष्टं भवति इत्यतः प्रकृतस्थले वकारस्य स्थानिवद्भावः न भवति।

पाणिनीयव्याकरणे अस्मिन् सन्दर्भे सूत्रम् अस्ति– 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्'[15]। काशिकायां सूत्रार्थः क्रियते– 'यकारवकाराभ्यामुत्तरस्य अचामादेः अचः स्थाने वृद्धिर्न भवति, ताभ्यां तु यकारवकाराभ्यां पूर्वम् ऐजागमौ भवतः ञिति, णिति, किति च तद्धिते परतः।' पाणिनिमतेन अत्र ऐकारस्य औकारस्य च आगमः भवति, तस्मात् सूत्रे पदसंख्यायाः वर्धनात् सूत्राकारं च वर्धते। सुपद्ममते तु ऐय् औव् च

आगमः भवति, तस्मात् सूत्रकलेवरं पाणिनीयसूत्रापेक्षा न्यूनम् अस्ति।

उपसंहारः

सुपद्मव्याकरणे तद्धितप्रकरणे केवलम् एकानुबन्धविशिष्टं णित्प्रत्ययः स्वीक्रियते। तस्मात् णिति तद्धितप्रत्यये परे वृद्धिकार्यसाधनाय 'णिति वृद्धिरचामादेः'[16] इति सूत्रं पद्मनाभदत्तेन विरचितम्। पाणिनीयतन्त्रे तु ञित् णित् कित् इति त्रयः अनुबन्धविशिष्टप्रत्ययाः वर्तन्ते। तस्मात् वृद्धिकार्यार्थं सूत्रद्वयं वर्तते– तद्धितेष्वचामादेः[17], किति च[18]। अतः एकानुबन्धप्रत्ययग्रहणात् सुपद्मतन्त्रे प्रत्ययवाहुल्यं सूत्रवाहुल्यं च न दृश्यते।

सुपद्मे तद्धिते[19] इत्यधिकारसूत्रे सर्वे तद्धितप्रत्ययाः पठ्यन्ते। सूत्रम् इदं सप्तमीविभक्तावस्ति। अतः प्रक्रियादशायां सूत्रस्य सप्तम्यन्तात् पदात् पूर्वम एव वृद्ध्यादिकार्यं स्यात् इति निर्दिश्यते। एतद्विषयकं परिभाषासूत्रमस्ति– इष्टसिद्ध्यै प्रायः प्रक्लृप्तिः[20]। तथा च सूत्रम् इदं सप्तमीनिर्देशेन एतस्मिन्नधिकारे पठितेषु सूत्रेषु सूत्रार्थनिर्णये विभक्तेः विपरिणमणस्य अपेक्षा न वर्तते। अष्टाध्यायां सूत्रम् अस्ति– तद्धिताः[21]। अतः पाणिनिनये सूत्रार्थनिर्णयकाले सर्वदा विभक्तेः विपरिणमणम् अवश्यं करणीयम्।

पाणिनीयव्याकरणानुसारेण सामान्यतया प्रत्ययानां त्रयो विभागाः वर्तन्ते।ते च- कृत्प्रत्ययः, तद्धितप्रत्ययः, स्त्रीप्रत्ययः। सुपद्मे तु कृत्प्रत्ययः तद्धितप्रत्ययः इति प्रत्ययानां द्वौ प्रकारौ स्तः। अत्र तद्धितप्रत्ययेषु स्त्रीप्रत्ययाः सन्ति। स्त्रीतद्धितप्रकरणं नाम्मा प्रकरणे तेषाम् अन्तर्भावो दृश्यते।

व्युत्पत्तियोग्यानां शब्दानां प्रातिपदिकसंज्ञाविधानार्थं सुपद्मकारेण सूत्रं कृतम्– सुबाद्याः प्रत्यये परे[22]। अनेन सूत्रेण तद्धितप्रत्ययानाम् अपि प्रातिपदिकसंज्ञा जायते। सुपद्मे तद्धितप्रकरणे स्त्रीतद्धितप्रत्ययानाम् अन्तर्भावात् उक्तेन सूत्रेणैव तेषाम् अपि प्रातिपदिकसंज्ञा भवति। पाणिनीयतन्त्रे पृथक्तया स्त्रीप्रत्ययाः विराजन्ते। परन्तु स्त्रीप्रत्ययानां प्रातिपदिकसंज्ञा न स्वीक्रियते। तर्हि तेभ्यः सुबुत्पत्तिः कथं भवेत् इत्याकाङ्क्षायां स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाङ्ङ्योस्सुप्[23] इति सूत्रे ङ्याप्प्रातिपदिकात्[24] इति सूत्रस्य अनुवर्तनं क्रियते। सूत्रस्य ङ्याप् इत्यनेन ङ्यान्तानाम् आबन्तानां च स्त्रीत्वबोधकानां शब्दानां बोधः जायते। एवं स्त्रीद्योतकेभ्यः शब्देभ्यः सुप्प्रत्ययानां प्रवृत्तिः भवति। अतः सुपद्मे किञ्चित् सरलोपायेन विषयोऽम् अवगम्यते। एवं पाणिनीयतन्त्रानुसारेण विरचिते सुपद्मव्याकरणेऽस्मिन् पद्मनाभदत्तस्य स्वातन्त्र्यं विद्यते।

सन्दर्भाः

1. सुपद्म-५.१.१
2. सुपद्म-५.२.११
3. सुपद्म-२.३.१०
4. सुपद्म-५.१.२
5. सुपद्म-५.१.४४
6. सुपद्म-५.२.७५
7. अष्टा-७.२.११७
8. अष्टा-६.४.१
9. सुपद्म-५.१.१
10. सुपद्म-५.१.२
11. सुपद्म-५.२.१९५
12. सुपद्म-५.१.५
13. सुपद्म ५.३.२१४
14. सुपद्म-५.१.२
15. अष्टाध्यायी-७.३.३
16. सुपद्म-५.१.२
17. अष्टा-७.२.११७
18. अष्टा-७.२.११८
19. सुपद्म-५.१.१
20. सुपद्म-१.१.३५
21. अष्टा-४.१.७६
22. सुपद्म–२.२.१
23. अष्टाध्यायी-४.१.२
24. अष्टा-४.१.१

तन्त्रपरम्परायां शाक्तोपासनाविमर्शः

· सन्ध्या*

शोधसारः

प्राचीनकालादेव भारतदेशः सुदृढधार्मिकस्थलरूपेण प्रसिद्धः। अत्र सर्वदा बौद्धिकम् आध्यात्मिकञ्च चिन्तनं प्रचलति। एतेषु शाक्तोपासना भारतीयसांस्कृतिकगौरवस्य आधारत्वेन विद्यते। देव्याः पूजनेन सह शक्तिः नारीरूपेण अभिव्यज्यते यतोहि सृष्टिप्रक्रियायां नारीणां महत्वपूर्णं योगदानमस्ति। एषैव निर्विशेषं शुद्धतत्त्वं सम्पूर्णब्रह्माण्डस्य आधारोऽस्ति, यः पुंस्त्वदृष्ट्या चित् स्त्रीत्वदृष्ट्या च चिति इतिकथ्यते। एषैव प्रकाश-विम र्शावस्था उच्यते। एतद्विषये एव शोधपत्रमिदम् विमर्शमुपस्थापयति।

बीजशब्दाः – शैवः, शक्तिः, आगमः, निगमः, तान्त्रिकपरम्परा, साधना, प्रकाश-विमर्शः, पञ्चमकाराः, चिच्छक्तिः, पराशक्तिः, आदिशक्तिः, इच्छाशक्तिः, ज्ञानशक्तिः, क्रियाशक्तिः।

तान्त्रिकपरम्परायां देशकालक्षेत्रभेदेन विभिन्नसम्प्रदायानामाविर्भावोऽभवत्। उपास्यभेदेन उपासनाप्रक्रियायाम् आचारादिषु च भेदः उपलक्ष्यते। शैवशाक्तगाणपत्यवैष्णवादयः सर्वप्रसिद्धभेदाः सन्ति। एतेषु शाक्तदर्शनम् अद्वैतवादस्यैव प्रतिपादकमस्ति। शाक्तमते पराशक्त्याः शिव उत्पद्य जगदुन्मीलयति। प्रत्यभिज्ञादर्शने यच्छिवतत्त्वं शक्तितत्त्वञ्चाभिधीयते तदेव शाक्तमते (त्रिपुरामते) कामेश्वरः कामेश्वरी च उच्यते। नित्याषोडशिकायां एकेन श्लोकेन शाक्तोपासनायाः महत्त्वम् वर्णितम्-

"यदक्षरैकमात्रेऽपि संसिद्धे स्पर्धते नरः । रवितार्क्ष्येन्दुकन्दर्पशङ्करानलविष्णुभिः" ॥[1]

अर्थात् एकपञ्चाशत्शक्तिपीठेभ्यः एकपञ्चाशन्मातृकाः उत्पद्यन्ते।[2] तासु एकपञ्चाशत्सु मातृकासु यदि एकस्याः मातृकायाः अपि अक्षरसिद्धिः भवति तर्हि सिद्धसाधकः सूर्य-गरुड-चन्द्र-कामदेव-शङ्कर-अग्नि-विष्णवादिदेवान् स्पर्धते इत्युक्ते तेषां गुणैर्युक्तः सोऽपि विशिष्टः भवतीत्यवगम्यते।

उपासना– "उपासनमिति उपासना" यथोक्तं शांकरभाष्यगीतायाम् उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते, अर्थात् शास्त्रविधिना उपास्यदेवं प्रति तैलधारावत् दीर्घकालपर्यन्तं चित्ते एकात्मकतया स्थितिः "उपासना" इत्याचक्षते।[2] उपास्यभेदेन परब्रह्मणः भेदद्वयं विद्यते- १) सगुणम्, २) निर्गुणम्[3]।

सगुणस्य पुनः द्वौ भेदौ स्तः- सगुणनिराकारः सगुणसाकारश्च। सगुणनिराकारोपासनायां

*शोधच्छात्रा, जवाहरलालनेहरूविश्वविद्यालय, नई दिल्ली

हिरण्यगर्भादारभ्य कारणकार्यब्रह्मणः विस्तारपर्यन्तं सर्वं विद्यते[4]। सगुणसाकारे ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रादीनां भैरव-भैरवी-शक्त्यादीनां सर्वासां मूर्तीनामुपासना भवति। अथापि सूक्ष्मदृष्ट्या सृष्टेः प्रत्येकस्मात् परमाणोः महाकाशपर्यन्तम् अहंतत्त्व-महत्तत्त्वादिषु सर्वेषु येनकेनापिरूपेण तस्य निर्गुणस्य, निष्कलस्य, निरञ्जनतत्त्वस्यैव उपासना भवतीति।

शक्तिः दशस्वरूपा वर्णिता देवीपुराणे। अग्रे मुख्यशाक्तोपासनायाः एकपञ्चाशत् केन्द्राणां संक्षिप्तचर्चा कृता। नित्याषोडशिकार्णवस्य प्रथमश्लोके देवी पीठरूपिणी इति कथ्यते, **"देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्"**[5]। टीकाकारैः एतत् भिन्नतया व्याख्यायितम्। अर्थरत्नावल्यानुसारेण शक्तिः अष्टपीठात्मिका वर्त्तते, यथा- कामरूप-कोल्लगिरि-सोपाय-उड्डीयान-मलयगिरि-कुलान्तक-देवीकोट्ट-जालन्धराः इति। शिवानन्दस्य अन्यमतं वर्त्तते। तेनानुसारेण 'पीठरूपिणीम्' इत्यस्यार्थः 'विश्वचित्रभित्तिरूपमिति' भवति। स्वेच्छया स्वभित्तौ परासंवित् अभिलषितं विश्वं प्रकटयति[6]।

भास्करारायेण अस्य पदस्य त्रयोऽर्थाः विहिताः।

1) ५१ बाह्याः अथवा भौगोलिकपीठाः

2) मन्त्रपक्षे कूटरूपिणी

3) आन्तरपीठाः अर्थात् श्रीचक्रे अस्याः रूपाणीति।

यथोक्तं यत् एकपञ्चाशत्पीठेभ्यः एकपञ्चाशन्मातृकाः उत्पन्नाः।[7]

मातृकाणां पूजा शाक्ततन्त्रे प्रथमतया भवति यतोहि शारदातिलके उद्धृतं यत् "मातृकावर्णभेदेभ्यः सर्वे मन्त्राः प्रजज्ञिरे"[8]। यथा निखिलविश्वस्य शक्तिरूपेऽवसानं भवति तथैव वर्णेषु सम्पूर्णवाङ्मयः अन्तर्भूतो जायते यतोहि सर्वाः शक्तयः वर्णानाम् आनुपूर्विविशेषाः एव भवन्ति,

"यदक्षरमहासूत्रप्रोतमेतज्जगत्त्रयम्। ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं तां वन्दे सिद्धमातृकाम्"[9]

इत्युक्तम् नित्याषोडशिकायाम्।

नित्याषोडशिकानुसारेण मातृका एव गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशि-पीठादिरूपिणी मन्त्रमयी च वर्त्तते। सेतुबन्धादिषु टीकासु अस्याः विशदचर्चा कृता।[10] अकारादि क्षकारान्तमातृकावर्णाः अष्टवर्गेषु वर्गीकृताः। एषा अष्टवर्गाशक्तिः शिवस्य अष्टावयवेषु निवसति।

"अकचादिटतोन्नद्धपयशाक्षरवर्गिणीम्।
ज्येष्ठाङ्गबाहुपादाग्रमध्यस्वान्तनिवासिनीम्"[11]॥

शिवस्य शिरसि अवर्गस्य[12], दक्षिणबाहौ कवर्गस्य, वामबाहौ चवर्गस्य, दक्षिणपादे टवर्गस्य, वामपादे तवर्गस्य, अग्रे पवर्गस्य, मध्ये यवर्गस्य तथा च हृदये शवर्गस्य न्यासः क्रियते। एकपञ्चाशत्सु मातृकासु ईकारक्षरं साक्षात् महादेव्याः वाचकमस्तीति नित्याषोडशिकायां वर्णितम्। ईकाराक्षरं देव्याः इच्छाशक्तेः द्योतकम्। वर्णितञ्च यथा-

"तामीकाराक्षरोद्धारां सारात्सारां परात्परं । प्रणमामिमहादेवीं परमानन्दरूपिणीम्"॥[13]

ईंकारस्य बिन्दुः विसर्गात्मकशक्तिशिवयोः सामरस्यरूपः वर्त्तते। अस्य आत्मरूपेण भावनया

परमानन्दस्यानुभूतिः प्राप्नोति साधकः।

श्रीविद्या – श्रीविद्या अतिरहस्यमयी गुप्तविद्या वर्त्तते तथा च शास्त्राणि एनां गोपायितुं निर्दिशन्ति। एतस्य विषये उक्तम् यत् **"मोक्षैकहेतुविद्या सा श्रीविद्या नात्र संशयः"**[14], तन्त्रपरम्परायाम् मोक्षस्य विषये उक्तम् यत्- "मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र। अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः" ॥[15]

श्रेष्ठतराविद्या श्रीविद्यायाः साधकाः द्विविधाः सन्ति- 1. कादि-विद्योपासकाः, 2. हादि-विद्योपासकाः।

श्रीशङ्कराचार्येण सौन्दर्यलहर्यां श्रीविद्यायाः अथवा पञ्चदशाक्षरीविद्यायाः विस्तृतोल्लेखः वर्त्तते।[16] तत्र श्रीविद्या सोमसूर्यानलात्मकः त्रिखण्डः मातृकामन्त्रः इत्युच्यते। एते खण्डाः अक्षररूपेषु एतादृशाः भवन्ति-

1) प्रथमः खण्डः - क, ए, ई, ल, ह्रीं।

2) द्वितीयः खण्डः - ह, स, क, ह, ल, ह्रीं।

3) तृतीयः खण्डः - स, क, ल, ह्रीं।

लक्ष्मीधरानुसारेण प्रथमवर्णचतुष्टयः आग्नेयखण्डः, द्वितीयः वर्णपञ्चकः सौरखण्डोऽस्ति। एतयोः मध्ये रुद्रग्रन्थिस्थाने हृल्लेखाबीजं स्थितम्। तृतीयखण्डस्य निरूपणं वर्णत्रयेण कृतम्, एषः सौम्यखण्डोऽस्ति। सौरसौम्यखण्डयोः मध्ये विष्णुग्रन्थस्थाने भुवनेश्वरीबीजं स्थाप्यते। अत्र पर्यन्तं पञ्चदशाक्षरीविद्याः उल्लिखिताः। इतः परम् एकस्य अन्यचतुर्थखण्डस्य मान्यता विद्यते। एषः एकाक्षरखण्डः चन्द्रकलाखण्डः वा अस्ति। सौम्यचन्द्रकलाखण्डयोः मध्ये ब्रह्मग्रन्थिस्थाने हृल्लेखाबीजं वर्त्तते।

चतुर्थः खण्डः– श्रीं। "श्रीं" इत्येव षोडशीकला[17] अस्ति। एतत् नित्याषोडशिकाबीजमेव श्रीविद्या इतिकथ्यते। श्रीविद्यायाः साधकाः द्विविधाः सन्ति- कादिविद्या (कएईलह्रीं), हादिविद्याश्च (हसकलह्रीं) उपासकाः। कादिविद्यायाः 'क' शिवस्य हादिविद्यायाः 'ह' शक्तेः द्योतकोऽस्ति। शाक्तोपासनायाः त्रीणि मुख्यकेन्द्राणि कश्मीरं, काञ्ची कामाख्या च वर्त्तन्ते। एतेषु काञ्ची कश्मीरञ्च श्रीविद्यायाः तथा कामाख्या कौलमतस्य उपासनास्थलानि वर्त्तन्ते।

श्रीचक्रोपासना– श्रीविद्योपासनायां श्रीचक्रस्यार्चनम् अतिमहत्त्वमावहति। कामकलाविलासे निगदितम् यत् सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेद्यदा अर्थात् सर्वोत्कृष्टा, महासाम्राज्ञी शक्तिश्चक्ररूपेण परिणता भवति[18]। यथा चक्रस्य सृष्टिः तथैव विश्वस्य अथवा पिण्डस्यापि सृष्टिः बिन्दुना भवति। बिन्दुः एव चक्रस्य मूलमस्ति तथा च शक्तिशिवयोः सामरस्यम् प्रतिपादयति[19]।

नवभिः चक्रैः श्रीचक्रस्य निर्माणं भवति। एतेषु चत्वारि शिवस्य पञ्च शक्तेः चक्राणां योगो वर्त्तते[20]। श्रीचक्रस्य नवचक्राणां नामानि सन्ति[21] – बिन्दुः, त्रिकोणः, अष्टकोणः, अन्तर्दशारः, बहिर्दशारः, चतुर्दशारः, अष्टदलपद्मः, षोडशदलपद्मः भूपुरश्च। एतेषु अन्तर्दशार-बहिर्दशार-चतुर्दशाराः शक्तिचक्रं उच्यते। बिन्दुः, अष्टदलकमलं, षोडशदलकमलं भूपुरञ्च शिवचक्रमित्यभिधीयते। एतेषु बिन्दुना विसर्गस्यप्रारम्भः वर्त्तते। नवचक्राणां त्रयोविभागाःवर्त्तन्ते। **"यथोक्तं त्रिभेदभिन्नं सृष्टिस्थितिसंहारात्मकं सोमसूर्यवह्न्यधिष्ठातृकमिति**[22]**"**

1) संहारचक्रे बिन्दुत्रिकोणाष्टकोणचक्राणि सन्ति।

2) स्थितिचक्रे अन्तर्दशारबहिर्दशारचतुर्दशारचक्राणां समावेशः भवति।

3) सृष्टिचक्रे अष्टदलषोडशदलभूपुरचक्राणि सन्ति।

सृष्टिचक्रं नित्याषोडशिकायां हुताशनः इतिकथ्यते।[23] अस्य तात्पर्यं वर्त्तते यत् अस्य चक्रस्य हुताशनः अधिष्ठाता अस्ति। एवमेव संहारचक्रस्य सोमः अधिष्ठाता स्थितिचक्रस्य च सूर्यः अधिष्ठाता इत्यभिज्ञायते।

व्यावहारिकरूपेण शाक्तोपासना दुर्गापूजादिरूपेण स्पष्टतया विद्यते। एष उत्सवः समग्रभारते प्रचलितः अथापि वर्त्तमाने पश्चिमबङ्गाल-उत्कल-मिथिलादिक्षेत्रेषु दुर्गोत्सवस्य आयोजनं विशेषतया क्रियते। देव्याः औपचारिकपूजा अश्विनमासस्य शुक्लपक्षस्य प्रतिपदातः प्रारभ्य दशमी तिथौ सम्पद्यते। बङ्गालप्रदेशे अस्योत्सवस्य प्रारम्भः 'महालय' इत्युच्यते। विभिन्नप्रान्तेषु अयमुत्सवः भिन्ननाम्ना प्रसिद्धः यथा- दशहरा, नवरात्रयः, बतुकम्मा इत्यादयः। नवरात्रपर्वणः नवदिवसीययोजनेषु वर्त्तमाने स्पष्टतया देव्याः उपासना विभिन्नेषु रूपेषु क्रियते। देव्याः प्रथमशैलपुत्रीरूपात् नवमसिद्धिदात्रिपर्यन्तरूपाणाम् उपासना अस्माकम् आध्यात्मिकधार्मिकसांस्कृतिकचेतनां प्रबलीकरोति।

कुमारीपूजनम्- शाक्ततन्त्रेषु नवरात्रौ क्रियमाणं कुमारीपूजनं तस्य महत्त्वञ्च उल्लिखितम्। बलिहोमस्तुत्यादिभिर्देवी तथा प्रसन्ना न भवति, यथा कुमारीपूजनं तस्यै प्रियमस्ति। कुमारीपूजनेन देवी शीघ्रं तुष्टा भवति इति आगमरहस्ये प्रामाणितम्। वस्तुतः कुमारीपूजनं समाजे नारीशक्तेः प्राधान्यं स्पष्टतया सूचयति। द्विवर्षादारभ्य दशवर्षीयाणां कुमारीणां पूजनं शास्त्रविहितम्[2 5]। किन्तु अनुपलब्धौ सति षोडशवर्षीयापि पूजिता भवति। शाक्तग्रन्थेषु चातुर्वर्णिककुमारीणां पूजाविधानमस्ति। सर्वेष्टसिद्ध्यर्थं ब्राह्मणकन्यां, यशप्राप्त्यर्थं क्षत्रियकन्यां, धनार्थं वैश्यकन्यां सन्तानप्राप्त्यर्थञ्च शूद्रकन्यां पूजयेत्। आगमरहस्ये यथोक्तम्-

"विप्रां सर्वेष्टसंसिद्धयै यशसे क्षत्रियोद्भवाम्। वैश्यजां धनलाभाय पुत्राप्त्यै शूद्रजां यजेत्"[26]॥

प्रथमवर्षात् षोडशवर्षीयाणां कुमारीणां प्रतिवर्षानुसारेण स्वरूपाणि वर्णितानि, तानि यथा – प्रथमवर्षीया सन्ध्या, द्वितीयवर्षीया सरस्वती, त्रिवर्षा कन्या त्रिधामूर्तिः, चतुर्वर्षीया कालिका, पञ्चवर्षीया सुभगा , षट्वर्षीया उमा इतिभवति। सप्तवर्षीया मालिनी, अष्टवर्षा कुब्जिका च नाम्ना ज्ञायते। नवर्षीया कालसङ्कर्षा, दशवर्षीया अपराजिता, एकादशवर्षीया रुद्राणी, द्वादशाब्दा भैरवी, त्रयोदशवर्षीया महालक्ष्मी, चतुर्दशवर्षीया पीठनायिका, पञ्चदशवर्षीया क्षेत्रज्ञा तदनन्तरं षोडशवर्षीया कन्या चण्डिका स्वरूपा भवति[27]।

एतासाम् अनेन क्रमेण पूजार्चनं भवेत्। वर्तमानेऽपि कन्यापूजायाम् अपक्वान्नदानस्य प्रथा प्रचलिता। एषा प्रथा वस्तुतः शास्त्रोक्तप्रक्रियायाः प्रतीकं वर्त्तते यत् कुमारीणां अङ्गेषु अक्षतैः विशिष्टमन्त्रोच्चारैः च न्यासक्रियाः भवति, यथा- "महाचण्डेश्वर्यै नमः" अनेन मन्त्रेण शिरसि अक्षतैः न्यासः करणीयः[28]।

एवमेव उक्तं न्याससमूहानां स्वशरीरेऽपि न्यासं कृत्वा अर्घ्यं स्थापयेत्। कुमारीणां पादप्रक्षाल्य सर्वसामग्र्यः तासां वामपक्षे संस्थाप्य रक्तचन्दनाक्षतैः पुष्पैश्च विशुद्धां, बालिकां, ललितां, मालिनीं, वसुन्धरां,

सरस्वतीं, रमां, गौरीं, दुर्गां[26] च क्रमशः पूजयेत्। विशुद्धादिनवानां दुर्गाणां क्रमशः पूजनं "ऐं ह्रीं श्रीं विशुद्धाय नमः" इत्यादिमन्त्रैः भवति। इत्थं सर्वाङ्गस्तुतिः, भोजनम्, आचमनम्, ताम्बूलदानं प्रदक्षिणादयः च व्यवहारान् कृत्वा तथा च यथाशक्ति दक्षिणादिव्यवहारः वर्तमाने अपि सम्पाद्यते[30]। कन्यापूजनसन्दर्भे कतिपयानां रहस्यमयाङ्गिकक्रियाणामपि वर्णनं प्राप्यते। यथा त्रिवारं अङ्गुलिध्वनिना दिग्बन्धनम्,[31] करतलध्वनिना भूतापसारणमादिक्रियाः।[32][3] ताभ्यः कुमारीभ्यः दक्षिणदिशायां नववर्षस्य शिशुगणेशस्य पञ्चवर्षस्य शिशुबटुकभैरवस्य च तथैव पूजा भवति।

शाक्तोपासनायां दीक्षा अतिमहत्त्वपूर्णा वर्त्तते। यद्यपि साधकः त्रिपुरादेव्योपासकः अथापि यावत् दीक्षां न गृह्णाति तावत् मोक्षप्राप्तिर्न भवति इतिमन्यते।[33] यथा उपनयनसंस्काररहितः द्विजः सर्वेषु कर्मषु अधिकारी न भवति तथैव दीक्षां विना त्रिपुरोपासनायाः अप्यधिकारी न वर्त्तते। दीक्षाप्राप्त्यर्थं सद्गुरुकृपा आवश्यकी अतएव शाक्ततन्त्रे गुरोः महत्त्वं वर्त्तते। गुरोः लक्षणानि शास्त्रेषु एवं वर्णितानि यत्- "सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वमन्त्रविधानवित्। लोकसम्मोहनकरो देववत् प्रियदर्शनः"[34] ॥

निष्कर्षतः शास्त्रोक्तविधिना कन्यापूजनेन सर्वे देवाः पूजिताः भवन्ति इतिमन्यते। कन्यापूजनेन समाजे एका शिक्षा प्रदीयते यत् प्रत्येकं कन्या नारी एव वस्तुतः शक्तिः। अतः प्रथमं सा एव पूज्या। उक्तमपि - "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"। सम्प्रति अस्य पूजनस्य वास्तविकज्ञानं सर्वेभ्यः शिक्षणीयम् स्यात्। यदि गृहस्था शक्तिः प्रसन्ना अस्ति तर्हि साधकस्य सर्वाः मनोकामनाः पूर्णाः भविष्यन्ति।

सन्दर्भाः

1. नित्याषोडशिका, १.३।
2. उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते। १२.०३, शाङ्करभाष्यगीता।
3. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। ३१.१८, यजुर्वेद।
4. देवीपुराण, पृ.४४२।
5. नित्याषोडशिका १.१।
6. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति,२ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।
7. देवीपुराणं, शक्तिपीठ-रहस्यम्, पृ. ४८-४९।
8. शा.ति. २.५७
9. नित्याषोडशिका १.५।
10. से.नित्याषोडशिका १.१।
11. नित्याषोडशिका १.७।
12. अकारः सर्ववर्णार्ग्यः प्रकाशः परमः शिवः। पृ.१५, नित्याषोडशिका।
13. नित्याषोडशिका १.८।
14. श्रीविद्यासाधना, Vol. 1, पृ.३०७
15. प.सा., श्लोक ६०।
16. सौन्दर्यलहरी, श्लो.३२।
17. षोडशेन्दोः कला भानोः द्विर्द्वादश दशानले। श्लो. ३२ ल.ध.व्याख्या, सौ. ल.।

18. सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेद्यदा। पृ.२५, कामकलाविलासः।
19. श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः, पृ. ४४६, दे.पु.।
20. चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः। शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ॥पृ.५१७,श्रीविद्यासाधना।
21. चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्॥१.१३, यो. हृ.।
22. ऋजुविमर्शिनी, १.४७।
23. ततः सृष्टिमहाचक्रं तृतीयं तु हुताशनः। मध्ये स्थितं द्वितीयं तु संहारः प्रथमं च यत्॥ १.४७, नित्याषोडशिका।
24. न तथा तुष्यते देवो बलिहोमस्तुतीरणैः। कुमारीपरिपूजनेनात्र यथा सद्यः प्रसीदति॥१६.७ आगम् रहस्यम्।
25. द्विवर्षाद्या दशाब्दान्ताः कुमारीः परिपूजयेत्। १६.११, आ.र.।
26. आगमरहस्यम्, १६.१४।
27. तदेव, १६.१५-१८।
28. आगमरहस्यम्, १६.९२-९३।
29. तदेव,१६.४९-५०।
30. तदेव १६.९२-९३।
31. तदेव, १६.२१-२२।
32. तदेव १६.२३।
33. यावद्दीक्षां न विन्देत त्रिपुरोपासकोऽपि सन्। न तावन्मोक्षसौधस्य सोपानाऽऽरोहणक्षमः॥७९.१८, त्रि.र.।
34. कुलार्णवतन्त्रम्, १३.३९।

चार्वाकबौद्धजैनदर्शनेषु मोक्षस्तदुपायविमर्शः

· दुर्गानाथभारद्वाजः*

शोधसारः

अस्मिन् शोधनिबन्धे सर्व-दर्शन-समन्वयद्रष्टुः माधवाचार्यस्य परिचयं विधाय चार्वाकसम्मतम् एकमेव प्रमाणं, 'चैतन्यविशिष्ट देह एव आत्मा' अथ च 'देहच्छेद एव मोक्षः' इति निरूपितम् । तदनन्तरं बौद्धमतमधिकृत्य अनुमानमपि प्रमाणं, माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकेति मार्गभेदेपि शून्यतारूपमेकमेव तत्त्वं वासनोच्छेदमूला मुक्तिश्चेति प्रतिपादितम्। अथ जैनदर्शनमधिकृत्य ज्ञानश्रद्धानाचरणानि त्रीणि मिलितानि मोक्षकारणम् इति साधु विवेचितम् ।

बीजशब्दाः

सर्वदर्शनसङ्ग्रहग्रन्थः भारतीयदर्शनशाखानां समासां काञ्चन विशिष्टां संगतिं प्रदर्शयन् प्रामाणिकीं विमर्शप्रतिबिम्बितां तथ्यव्यक्तिं च समर्पयन् अधिकारभेदेन साम्येन प्रतिशाखं माहात्म्यव्यक्तिम् अभिव्यञ्जयन् भ्राजते ।

अस्य ग्रन्थस्य रचयिता श्रीमान् अत्रभवान् सायण-माधवाचार्यः श्लाघ्यतमः समेषां दार्शनिकानां तत्त्वार्थबुभुत्सूनाम् अनुसन्धित्सूनां नितरामुपजीव्यतां समादरपात्रतामात्मनि संबिभर्ति। पवित्रमे विश्रुते श्रीसायण कुले एष माधवाचार्यः शालिवाहनशकस्य त्रयोदशशताब्दे उत्तरार्धे जन्म लेभे । तदिदम् अन्तःसाक्ष्येण सम्यक्-तया प्रमाणितं भवति। तद्यथा -

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धि-कौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ।।[1]

श्रीमान् माधवाचार्यः संग्रहे प्रवृत्तः यस्माद् गुरोः समां विद्याम् अधीत्य शास्त्राणां पार्श्वदृश्वा विद्वान् अभूत् तं सर्वज्ञकल्पं विष्णुगुरुम् नित्यार्चितं श्रद्धाभरेण अभिवन्दमानो जयति । तद्यथा -

पारं गतं सकलदर्शनसागराणाम् आत्मोचितार्थ-चरितार्थित-सर्वलोकम् ।
श्रीशार्ङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं सर्वज्ञविष्णु-गुरुमन्वहमाश्रयेऽहम् ।।[2]

श्रीगुरोः स्तुतिवन्दनतः प्रागसौ महान् शिवोपासकः नित्यज्ञानविजृम्भितं शाब्दमनुभवगम्यमनुमयापि समधिगम्यं परमेश्वरं सप्रह्वमभिष्टौति । तद्यथा -

*B34/140K, गायत्रीनगर, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

नित्यज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम् ।
येनैव जातं मह्यादि तेनैवेदं सकर्तृकम् ।।[3]

सर्वदर्शनसंग्रहग्रन्थस्य टीकाकृद् अभ्यंकरोपाह्वः श्रीवासुदेवशास्त्री सुस्पष्टं प्रतिपादयति यद् दक्षिणभारते कर्णाटक-प्रदेशे तुङ्गभद्रा-नद्यास्तीरे पम्पासरोवर-समीपे विजयनगरनाम्नि विश्रुतस्थाने निवसतिस्म श्रीमान् माधवाचार्यः। सोऽयं महाविद्वान् विजयनगरस्य यः राजा बुक्कवीरनाम्ना प्रथितस्तस्य मुख्यामात्यः शास्त्रेष्विव राजनीतिविद् राजधर्मपराक्रमोप्यभात्। स्वपराक्रमेण अयं बुक्कवीरस्य राज्ञः शत्रुं कोङ्कणान्तर्गत-गोमन्तक-प्रान्त-निवासिनं पराजयं प्रापय्य तं बुक्कराजाधीनं विहितवान्। तदियं शास्त्रे शस्त्रे चास्य नैपुणी विश्रूयते। अथ राज्ञोनुरोधेन श्रीमान् माधवाचार्यः चातुर्वण्याश्रयं किमपि नगरं निर्माय श्रोत्रिय-ब्राह्मणेभ्योग्रहार इति प्रादात्। तन्नगरं ₹माधवपुर₹ इति नाम्ना विश्रुतम् अभूत्। तस्य चैतस्य दानपत्रं 1312 तमे शालिवाहनशकाब्द-संवत्सरे निर्मितमभूत्।

भारद्वाजगोत्रः याजुषः बौधायनसूत्रानुसारी माधवाचार्यः मायण-श्रीमत्योरात्मजः बुक्कवीरस्य तत्पुत्रस्य हरिहरस्य च राज्ञः मुख्यमन्त्रिपदं निर्वाह्य वार्धक्ये संन्यासाश्रमं स्वीकृत्य शृङ्गेरीमध्ये श्रीमच्छङ्कराचार्यपीठमधितिष्ठन् श्रीविद्यारण्य-नाम्ना विश्रूयमाणो बहून् ग्रन्थान् निर्मातिस्म ।[4]

सर्वदर्शनसंग्रहे चार्वाकदर्शनं सर्वादौ निरूपितम्। तस्मिन् दर्शने अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ उपगम्येते। धर्मः मोक्षश्चेति द्वयोरपलापः क्रियते। चारुः रमणीयः वाकः, उक्तिः यस्य स चार्वाकः, बृहस्पतिशिष्यः। श्रवणकाले ये श्रोतारः तेषाम् आपाततः मनोरञ्जनाद् चार्वाक इति अन्वर्थं नाम। देह एवात्मा। स च मरणकाले भस्मीभवति। तदन्यः कश्चन आत्मा न दृश्यते। अतः यावज्जीवं सुखं जीवेदिति मतं साधारणप्राणिनां कृते रोचते। अत एव चार्वाकमतं लोके आयतं प्रसृतं भवतीति लोकायतमिति नाम्नापि प्रथते।

चार्वाकस्य मते प्रत्यक्षमेकं प्रमाणमिति स्वीकाराद् भूतानि चत्वारि पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाणि एव तत्त्वानि अङ्गीक्रियन्ते। एषामेव चतुर्णां देहरूपेण परिणामो जायते। देहे च ज्ञानापरपर्यायं चैतन्यं यद् उत्पद्यते तद् देहनाशेन सह नश्यति। तस्माद् चैतन्यविशिष्ट देह एवात्मा। यदुक्तम् - 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।'[5] तस्मात् यथार्थज्ञान-साधनं प्रमाणं प्रत्यक्षमेवैकम्। चक्षुरादिना इन्द्रियेण उत्पन्नं ज्ञानं प्रमा अथ तेन गृह्यमाणो घटादिः सत्यः प्रमेयः। श्रोत्रेन्द्रियं शब्दं बोधयतीति श्रोत्रेन्द्रियेण ग्राह्यः शब्दः सत्यः प्रमेयः।

बौद्धदर्शने प्रत्यक्षम् अनुमानं चेति द्विविधं प्रमाणं स्वीक्रियते। बौद्धाः कथयन्ति - कार्यकारणभावः स्वभावश्चेति द्वयम् अविनाभावस्य व्याप्तेः निश्चायकमिष्यते। यतश्च कारणाधीनः कार्यस्य आत्मलाभः अतः धूमाग्न्योः कार्यकारणभावाद् व्याप्तिग्रहः सुग्रहः। स्वभावो नाम तादात्म्यम्, तेनापि धूमाग्न्योः व्याप्तिः सुग्रहा - यदात्मा यो भावः स तद्विना स्थातुं नैवार्हतीति धूमाग्न्योः व्याप्तिः सुवचा। यदुक्तम् - 'यदभ्यधायि - अविनाभावो दुर्बोध इति तद्असाधीयः। तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्याम् अविनाभावस्य सुज्ञानत्वात्।[6] तदुक्तम् -

कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात् ।।[7]

एकस्यापि भगवतो बुद्धस्य विनेयभेदात् चतुर्विधाः प्रथन्ते बौद्धाः। तत्र माध्यमिकः सर्वशून्यत्ववादी, योगाचारः बाह्यार्थ-शून्यत्ववादी, सौत्रान्तिकः बाह्यार्थानुमेयत्ववादी, वैभाषिकस्तु बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादी विलसति। अत्र भावनाचतुष्टयम् उपदिष्टं भवति - (1) सर्वं क्षणिकं क्षणिकम् (2) दुःखं दुःखम् (3) स्वलक्षणं स्वलक्षणम् (4) शून्यं शून्यमिति च।

भावनाचतुष्टयस्य उत्कर्षेण यस्य निखिलग्राह्यग्राहकवासना उच्छिद्यते तस्य विविध ग्राह्यग्राहकाकारसंबन्धो विगलितो भवति। परिणामस्वरूपमस्य विशुद्धं विज्ञानम् उदेति सोऽयं महोदयो मोक्ष इत्युच्यते।

पदार्थ-विषये दार्शनिकानाम् ऐकमत्यं नास्ति। तत्र बाह्याभ्यन्तरोभयवादिनः सौत्रान्तिकाः, वैभाषिकाः साकारज्ञानवादिनः अन्ये च भवन्ति। अनुभयवादिनः माध्यमिकाः। आन्तरमात्रवादिनः विज्ञानवादिनः अथ बाह्यार्थमात्रवादिनः सन्तस्तावद् निराकार-ज्ञानवादिनः नैयायिकादयः इति विवेकः। आकलितेन उपदेशभेदेन न तत्त्वभेदः किन्तु मार्गभेदः। तत्त्वं तु शून्यतारूपम् एकमेव। सुकुमारमतयः सर्वास्तित्ववादेन शून्यतायाम् आनीयन्ते। मध्यममतयः ज्ञानमात्रास्तित्वेन शून्यताबोधमया विधीयन्ते। प्रकृष्टमतयस्तु साक्षादेव शून्यतातत्त्वं विदन्ति। तदेवम् प्रत्यक्षम् अनुमानंचेति प्रमाण-द्वैविध्यम् अङ्गीकुर्वन्तो बौद्धाः चतुर्षु प्रस्थानेषु संविभक्ताः रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदात् निवार्णमुक्तिं लभन्ते। यथोक्तम् -

'प्रत्यक्षमनुमानंच प्रमाणद्वितयं तथा ।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः।।[8]
रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेद-संभवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ।।[9]

तत्र सम्यग् दर्शनं, सम्यग् ज्ञानं, सम्यक् चारित्रं चेति रत्नत्रय-पदवेदनीयम् आर्हतदर्शने प्रसिध्यति। त्रयानाम् एतेषां मिलितानां मोक्षं प्रति कारणत्वं स्वीक्रियते। यथा च घटं प्रति दण्डचक्रकुलालानां मिलितानां कारणत्वे सत्यपि कारणतावच्छेदकं प्रत्येक-वृत्ति दण्डत्वादिकमिव सम्यग्दर्शनत्वादिकमेव भवति।

(1) भगवता अर्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे या श्रद्धाभावमयी दृष्टिः सा सम्यग् दर्शनमित्याख्यायते। यथोक्तम्-

तत्त्वार्थं श्रद्धानं सम्यग् दर्शनमिति।[10]
रुचिर्जिनोक्त तत्वेषु सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा ।।[11]

(2) येन स्वभावेन जीवादिपदार्थानां व्यवस्थितिरस्ति तेन स्वभावेन मोहसंशयरहितत्त्वेन योवगमः तदेव सम्यग् ज्ञानमित्युच्यते। ज्ञानमिदं पञ्चविधं भवति - 1. मतिः 2. श्रुतम् 3. अवधिः 4. मनःपर्यायः 5. केवलं चेति।

यदुक्तम् -

यथावस्थित-तत्त्वानां संक्षेपाद् विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानम् मनीषिणः ।।[12]

(3) संसारकारणीभूतं यत् कर्म तस्य विनाशाय प्रयतमानस्य श्रद्धावतः तत्त्वज्ञानिनः यत् पापविनाश-कारणीभूत-क्रियाचरणं तत् सम्यक्-चारित्रमित्युच्यते। यदुक्तम् -

संसरण-कर्मोच्छित्तौ उद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारण-क्रियानिर्वृत्तिः सम्यक् चारित्रम् इति[13] ज्ञानश्रद्धानाचरणानि त्रीणि मिलितानि मोक्षकारणम् स्वीक्रियते।

तदेवम् अधिकारिविशेषसापेक्षश्चार्वाक-दर्शन सिद्धान्तः, बौद्धदर्शन -सिद्धान्तः आर्हतदर्शन-सिद्धान्तश्च प्रमाणस्वरुपादिनिरूपणपूर्वकं मोक्षस्वरूपोपयोगी यथाभवति तथा नितान्तसंक्षेपेणात्र विवेचितमिति शम्।।

सन्दर्भाः

1. सर्वदर्शनसंग्रहः मङ्गलश्लोक-सं. - 03
2. सर्वदर्शनसंग्रहः मङ्गलश्लोक-सं. - 02
3. सर्वदर्शनसंग्रहः मङ्गलश्लोक-सं. - 01
4. सर्वदर्शनसंग्रहः प्रस्तावना पृ. - 06
5. बृहदारण्यकोपनिषद् - 2/4/12, चार्वाकदर्शनं पृ . 3
6. सर्वदर्शनसंग्रहः, बौद्धदर्शनम् पृ. - 16
7. न्यायबिन्दुवचनम्, बौद्धदर्शनम् पृ. -16
8. न्यायबिन्दुवचनम्, बौद्धदर्शनम् पृ. -46
9. न्यायबिन्दुवचनम्, बौद्धदर्शनम् पृ. -46
10. तत्त्वार्थसूत्रवचनम्, आर्हतदर्शनम् पृ. - 62
11. तत्त्वार्थसूत्रवचनम्, आर्हतदर्शनम् पृ. - 62
12. तत्त्वार्थसूत्रवचनम्, आर्हतदर्शनम् पृ. - 63
13. तत्त्वार्थसूत्रवचनम्, आर्हतदर्शनम् पृ. - 65

लोचनोन्मीलित ध्वनिप्रस्थानोन्मेष

· प्रो. प्रयाग नारायण मिश्र *

शोधसार –

काव्यात्मा ध्वनि का निरूपण कर आचार्य आनन्दवर्धन ने सहृदयों के मनोमन्दिर में अनश्वरी प्रतिष्ठा प्राप्त की है तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचनटीका द्वारा उसी ध्वनि सिद्धान्त को सुदृढ़ता प्रदान की है। प्रस्तुत शोधपत्र में आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित, ध्वन्यालोक की प्रतिष्ठित लोचन टीका का विवेचन किया गया है।

बीजशब्द – आचार्य आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक,आचार्य अभिनवगुप्त, लोचन टीका,काव्यशास्त्र, रसवस्त्वलङ्कारध्वनि,वाच्यार्थ, प्रतीयमानार्थ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के मर्मज्ञ आचार्य महामाहेश्वर अभिनवगुप्त एक सिद्ध दार्शनिक होकर भी काव्यशास्त्रीय रससिद्धान्त एवं अभिव्यक्तिवाद के प्रतिष्ठाता तथा ध्वनिवाद के उन्नेता नाट्यतत्त्वविशारद विलक्षण आचार्य थे। मौलिक रूप से काश्मीर शैवदर्शन को अपनी सारस्वत साधना से प्रतिष्ठित करने वाले सौन्दर्यशास्त्र के परमाचार्य अभिनवगुप्तपाद ने यद्यपि किसी मौलिक काव्यशास्त्रीय-ग्रन्थ का प्रणयन न करके भी नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती संज्ञक टीका तथा आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक पर लोचननाम्नी टीका का प्रणयन करके एक असामान्य टीकाकार के रूप में शङ्कराचार्य की भाँति अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है।

अभिनवगुप्त की टीकाओं में अद्यावधि अप्रकाशित तथा अनुपलब्ध अनेक साहित्यशास्त्रीय मूर्धन्य आचार्यों की अनेक दुर्लभ कृतियों के विचार रत्नों की देदीप्यमान शृङ्खलाएँ चित्त को आह्लादित करती हुई देखी जा सकती हैं अतः यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि अभिनवगुप्त की टीकाएं अपने अन्तस्तल में अनगिनत सारस्वत परम्पराओं के महार्घरत्नों को संजोये हुए हैं। आचार्य भट्टतौत, मनोरथ, भट्टनायक आदि के प्रामाणिक परिज्ञान के मूल आधार अभिनवगुप्त के भाष्य ही हैं। अभिनवगुप्त की टीकाओं में उनके पूर्ववर्ती समसामयिक युग के वैदुषी प्रस्थान की अत्यधिक विश्वसनीय तथा सजीव पृष्ठभूमि के दर्शन होते हैं। अभिनवगुप्तकृत साहित्यशास्त्रीय टीकाग्रन्थ परवर्ती आचार्यों के लिए प्रामाणिक मान्यताओं के मेरुदण्ड हैं, इसीलिए काव्यशास्त्रीय जगत् में कालजयी व्यक्तित्व के अधिपति बनकर साहित्य-चिन्तन की दृष्टि से वह सर्वोच्च स्थान पर विराजमान हैं।

*प्रोफेसर, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

काव्यशास्त्रीय परम्परा में यदि ध्वनि-प्रस्थान के उद्भव बिन्दु का दर्शन करने हेतु गम्भीर चिन्तन किया जाय तो विदित होता है कि 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं'[1] इत्यादि रूप में परिभाषित मात्र शब्दार्थस्वरूपात्मक काव्य को शब्दार्थ मात्र की शुष्क परिधि से मुक्त करके उसे प्राणतत्त्व से युक्त करने वाले आचार्य अभिनवगुप्त ही हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार कवि जब अपने अनुभूतभावों की अभिव्यक्ति ध्वनन रूप आत्मा से युक्त गुणालङ्कारौचित्य-समन्वित सुन्दर शब्दार्थों से करता है तो उसे काव्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, जैसा कि ध्वन्यालोक से स्पष्ट है-

गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः।[2]

काव्यग्रहणाद् गुणालङ्कारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षणश्च आत्मेत्युक्तम्।[3]

ध्वन्यालोक-लोचन में प्रोक्त काव्यस्वरूप में ध्वनि को काव्य के आत्मत्वेन प्रतिष्ठित करके अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन की प्रच्छन्न स्वीकृति को मुक्तकण्ठ से डिण्डिमनादपूर्वक प्रतिष्ठित किया है। इससे इनका ध्वनिप्रस्थान-विषयक मौलिक अवदान अविस्मरणीय प्रतीत होता है। ध्वन्यालोक में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'[4] कहकर काव्यात्मा के रूप में सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक ध्वनि को अङ्गीकृत करके वस्तु, अलङ्कार तथा रसरूप में त्रिविध वर्णित किया गया है। अतः वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि तथा रसध्वनि में काव्यात्मत्वेन रसध्वनि को ही प्रतिष्ठित करने का आद्य श्रेय अभिनवगुप्त को ही है। सम्भवतः इसीलिए वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि का पर्यवसान अन्ततः रसध्वनि में अधिष्ठित किया गया है-

रसेनैव सर्व जीवति काव्यम्। तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते। वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्येति सामान्येनोक्तम्।[5]

ध्वन्यालोक की द्वितीय कारिका 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः' की लोचन टीका में इस रसध्वनि की आत्मत्वेन प्रतिष्ठा करते हुए अभिनवगुप्त का मन्तव्य है कि शब्दार्थरूपकाव्य के शरीर की कल्पना करने से यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि उसे अनुप्राणित करने वाली कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिए। यतोहि शब्द तो मात्र शरीर भाग से सन्निविष्ट होकर सर्वजनसंवेद्य होता है, परन्तु सहृदय की परमविश्रान्ति इस शब्द मात्र से सम्भव नहीं है, वह तो किसी अर्थविशेष की अपेक्षा करता है, अतः उसमें कुछ विशेष तथा विलक्षण होना चाहिए जो विशेष प्रतीयमान रस ही रसध्वनि के रूप में काव्य का जीवन अर्थात् आत्मा है, जैसा कि प्रोक्त है-

'शब्दार्थशरीरं काव्यमिति यदुक्तं, तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना तदनुप्राणकेन भाव्यमेव। तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात्स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह सहृदयश्लाघ्य इति स एक एवाऽर्थो..... तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण। यो विशेषः स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते'.....किं तु शब्द समर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावाऽनुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादि-वासनानुरागकुमार-सुकुमार-स्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, काव्यव्यापारिकगोचरो रसध्वनिरिति। स एव मुख्यतयात्मेति।'[6]

अतः आचार्य अभिनवगुप्त ने वस्त्वलङ्कारध्वनिद्वय का पर्यवसान रस में करके उसे ही काव्यात्मा स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त के इस अभिनव आयाम की स्पष्ट झलक ध्वन्यालोक के मङ्गलाचरण की लोचनटीका में ही टीकारम्भ के साथ देखी जा सकती है।

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः।।[7]

अर्थात् स्वयं अपनी इच्छा से नृसिंह रूप धारण किये हुए मधुरिपु अर्थात् भगवान् विष्णु के, अपनी निर्मल कान्ति से चन्द्रमा को लज्जित करने वाले, शरणागतों के दुःखों का नाश करने में समर्थ नख तुम सब व्याख्याताओं तथा श्रोताओं की रक्षा करें।

प्रस्तुत श्लोक में आनन्दवर्धन ने रस का प्रत्यक्षतः उल्लेख नहीं किया है,परन्तु लोचनकार अभिनवगुप्त उस निगूढ रसध्वनि को अपनी युक्तियों से प्रकाशित कर देते हैं, जहाँ वीररस को व्यङ्ग्य बताते हुए आचार्य अभिनव का मत है-

त्राणं चाऽभीष्टलाभं प्रति साहायकाचरणम्। तच्च तत्प्रतिद्वन्दिविघ्नापसारणादिना भवतीति। इयदत्र त्राणं विवक्षितम् । नित्योद्योगिनश्च भगवतः सम्मोहाध्यवसाय- प्रतियोगित्वेनोत्साह- प्रतीतेवीररसो ध्वन्यते।[8]

अतः निश्चप्रचमेव आचार्य अभिवगुप्त रसध्वनि की प्रतिष्ठा करने वाले आद्य आचार्य हैं, इसीलिए आनन्दवर्धन के 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्'।[9] अंश की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त जिस प्रकार से ध्वनिकार के प्रस्थान को प्रतिष्ठित करते हैं वह वस्तुतः सर्वथा श्लाघ्य तथा स्तुत्य है। अभिनव की व्याख्या में 'आनन्द' शब्द का अभिप्राय जिस तरह व्यक्त किया गया है उससे स्पष्ट है कि 'आनन्द' शब्द चर्वणात्मा रस का ही पर्याय है, वही रसध्वनि है, वही ध्वन्यर्थ अथवा प्रतीयमान अर्थ है तथा काव्य में उसी का आत्मत्व है, यथा-

'आनन्द इति। रसस्य चर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन्
रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति।'[10]

अभिनवगुप्त की दृष्टि से हृदयसंवादी काव्यार्थ का उद्भव रस से ही सम्भव है। यह रसध्वनिरूप प्रतीयमानरूप विलक्षण काव्यार्थ पाठक अथवा सहृदय के अङ्गप्रत्यङ्ग को उसी प्रकार आप्लावित कर देता है जिस प्रकार अग्नि सूखी लकड़ी को व्याप्त कर लेती है-

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना।[11]

आचार्य अभिनवगुप्त के मत में प्रतीयमानार्थ का अर्थ प्रस्तुत हृदयसंवाद से ही सम्भव है, क्योंकि यह प्रतीति मात्र सहृदय को ही होनी सम्भव है। अतः सहृदयता काव्यार्थानुभव हेतु अपरिहार्य तथा परमावश्यक है, इसीलिए तो लोचन टीका में प्रोक्त है-

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे
वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता त एव सहृदयसंवादभाजाः सहृदयाः।[12]

संस्कृतवाङ्मयी में प्रकाशित एक लेख में अभिराज प्रो. राजेन्द्रमिश्र के समीक्षण से विदित होता है कि 'व्यञ्जनात्मक ध्वनन व्यापार' की विलक्षण स्थापना के पश्चात् अभिनवगुप्त ध्वनि-विरोधी आचार्य भट्टनायक का खण्डन उनकी ही स्थापनाओं से करते हैं। भट्टनायक स्वयं काव्य में अभिधा, भावना तथा रसचर्वणात्मक भोजकत्व व्यापार के समर्थक हैं। भट्टनायक के इसी रसचर्वणात्मक भोजकत्व व्यापार को लेकर अभिनवगुप्त कहते हैं कि आप भी रसचर्वणात्मक काव्य में भोजकत्वव्यापार जन्य रसचर्वणा को ही काव्य का जीवितभूत मानते हैं,तो फिर आप एवं ध्वनिकार की काव्यात्मकप्रतिष्ठा में क्या अन्तर है?

तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मके पित्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेतिभवतोऽप्यविवादोऽस्ति। यथोक्तं त्वयैव काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोग भाक्।[13]

अतः अभिनवगुप्त के मत में भट्टनायक तथा ध्वनिकार के अभिमत समान हैं। दोनों में शब्दमात्र का भेद है। एक उसे ध्वनि संज्ञा से अभिहित कर रहा है तो दूसरा भोजकत्व व्यापार। अब इस मान्यता के बाद भी यदि हृदयदर्पणकार ध्वनि को काव्यात्मा न मानकर काव्य का अङ्गमात्र माने तो आश्चर्य है-

तेन यदुक्तम्- ध्वनिर्नामापरो योऽसौ व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येऽङ्गत्वं निरूपिता इति तदपहसितं भवति।[14]

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन सहृदयश्लाघ्य आत्मतत्त्वभूत प्रतीयमान अर्थ को रमणियों के प्रसिद्ध मुख-नेत्र आदि अवयवों से भिन्न उनके लावण्य के समानवाच्यार्थ से अलग ही भाषित होने वाला बताया है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यामिवाङ्गनासु ।।[15]

अभिनवगुप्त के मत में काव्यार्थ चाहे वाच्य हो अथवा व्यङ्ग्य, दोनों समान है परन्तु सहृदयों द्वारा प्रशंसित उस अर्थ में जो विशेष है, वही प्रतीयमान होने के कारण आत्मभूत है। इसी को वस्त्वलङ्कारध्वनिद्वय को आत्मसात करने वाले रसध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित करके अभिनवगुप्त ने अभिनव आयाम प्रस्तुत किया है, इसीलिए आनन्दवर्धन के द्वारा काव्य को 'ललितोचितसन्निवेशचारु' की संज्ञा दिये जाने पर अभिनवगुप्त लिखते हैं- ललितशब्देन गुणालङ्कारग्रहणमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवति इति दर्शयन् रसध्यनेर्जीवितत्वं सूचयति।[16]

अतः यह रसध्वनि ही काव्यात्मा है जो आचार्य काव्यचारुत्वहेतु गुणालङ्कार से व्यतिरिक्त ध्वनि को नहीं मानते, उन्हें उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त का मत है कि रसध्वनि तो काव्य का आत्मतत्त्व है, न कि चारुत्व हेतु। जैसे काणत्व आदि दोषों से रहित शरीरावयवों से संवलित किसी अलङ्कृत रमणी को भी 'यह लावण्यशून्य है' तथा आङ्गिकदोषयुक्त तथा अनलङ्कृत होने पर भी यह तो 'लावण्यामृतचन्द्रिका ही है', ऐसा व्यवहार सहृदय करते हैं उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ भी काव्य के प्रसिद्ध अवयवों गुण वृत्ति-रीति अलङ्कार आदि से सर्वथा व्यतिरिक्त है। प्रतीयमानार्थ के ध्वनिकार-सम्मत त्रैविध्य का विशदीकरण करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने रसध्वनि की भव्य प्रतिष्ठा की है। अभिनवगुप्त आचार्य भरत के रससूत्र के व्याख्यातृचतुष्टय भट्ट-लोल्लट,

शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त स्वयं में अभिव्यक्तिवाद के प्रतिष्ठाता मूर्धन्य आचार्य हैं। इनके इस रससिद्धान्तप्रतिष्ठातृत्व की स्पष्ट झलक इनकी लोचनटीका में देखी जा सकती है।

जहाँ तक ध्वनिप्रस्थान का प्रश्न है वह तो व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त पर आश्रित होकर 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः' के आधार पर सर्वप्रथम अभिव्यंजक शब्द के रूप में अस्तित्व में आया तदनन्तर संस्कृत साहित्य के आचार्यों की सारस्वतसाधना के फलस्वरूप एक लम्बी यात्रा पूर्ण करते हुए क्रमशः व्यंजकशब्द, व्यंजक अर्थ, रसवस्त्वलङ्कार, शब्दार्थव्यापार तथा यहाँ तक कि उत्तम काव्य के रूप में, सहृदयजनगम्य हो गया। ध्वनि के इसी काव्यसर्वस्व रूप परम वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं-

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकमान्यमभिव्यनन्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।[17]

अर्थात् इस स्वदु अर्थवस्तु को बिखेरती हुई महाकवियों की सरस्वती अलौकिक अतिभासमान प्रतिभाविशेष को प्रकट करती है। आनन्दवर्धन के इसी मत का विशदीकरण करते हुए अभिनवगुप्त का मत है कि सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ भी ध्वनित होता है अथवा शब्दार्थव्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार उपर्युक्त कारिका के द्वारा प्रधानतया शब्द-अर्थ-वाच्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ तथा शब्दार्थव्यापार भी ध्वनि है-

सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः... स काव्यविशेष इति । अथ वा शब्दो वा, व्यापारो वा । अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति।[18]

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग पाँच भिन्न-भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थों में स्वीकार्य है। ये हैं व्यञ्जकशब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य।

सामान्यतः ध्वनि का अर्थ व्यङ्ग्य है। पारिभाषिक शब्दावली में ध्वनि को 'वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः' कहकर परिभाषित किया जा सकता है। अतः वाच्य से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य को ध्वनि मानकर ध्वनि के अनेक भेद किये गये हैं। अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के मन्तव्य को प्रस्तुत करते हुए ध्वनि के मूल दो भेद अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के नाम से स्वीकार करके कुल 35 भेदों का स्पष्ट संकेत किया है-

अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ।.. पञ्चत्रिंशद्भेदाः।[19]

काव्यालङ्कारसारसंग्रह के व्याख्याकार आचार्य इन्दुराज ने ध्वनि को प्रमुख दशवर्गो में विभाजित किया है।[20] आचार्य मम्मट ने तो ध्वनि के प्रमुख इक्यावन भेद बताकर कुल 10455 भेद स्वीकार किये है।[21] अतः ध्वनि के असंख्यभेद सम्भावित होने के कारण उनका एकैकशः निरूपण क्या नामोल्लेख भी अप्रासङ्गिक होगा। अतः सम्प्रति ध्वन्यालोक में निर्दिष्ट भेदद्वयाश्रित पैंतीस भेदोपभेदों में यहाँ अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूलक तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि अर्थात् अभिधामूलक ध्वनिद्वय का सभेद दिग्दर्शन करके सन्तोष करना ही उचित है।

सन्दर्भ –

1. काव्यालङ्कार
2. ध्वन्यालोक 1.4 लोचन
3. तदेव 1.13 लोचन
4. तदेव 1.1
5. तदेव 1.5 लोचन
6. तदेव 1.2 लोचन
7. तदेव-मङ्गलाचरण
8. तदेव - लोचन
9. तदेव लोचन
10. तदेव लोचन
11. तदेव 1.21 लोचन
12. तदेव 1.1 लोचन
13. तदेव लोचन
14. तदेव लोचन
15. तदेव 1.4
16. तदेव 1.2 लोचन
17. तदेव 1.6
18. तदेव लोचन
19. ध्वन्यालोक 2.1 लोचन पृ.281
20. काव्यालङ्कारसारसंग्रहटीका पृ.91
21. काव्यप्रकाश 5.47, पृ 224

संस्कृत साहित्य में जलविचार

(वृहत्संहिता के आलोक में)

· डॉ. मैत्रेयी कुमारी*

शोधसार –

जल प्राणीमात्र के जीवन का आधार है। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक संस्कृत भाषा साहित्य में जल के संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। प्रस्तुत लेख वराहमिहिर प्रणीत वृहत्संहिता ग्रन्थ में प्रतिपादित जल सम्बन्धी विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। यहाँ जल के प्रारम्भिक रूप से लेकर वर्षाजल, नदी जल, कूप एवं सरोवर आदि जलीय स्रोतों के जलों की शुद्धि एवं संरक्षण का विचार किया गया है।

बीजशब्द – आपो, अप्सर्, अम्भ, अम्भस्, सलिलम्, आप्य, वायव्य, सौम्य, सुवृष्टि, अतिवृष्टि, अप्, वायु और सोम आदि।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है- **क्षितिजल पावक गगन समीरा, पंचरचित यह अधम शरीरा।** हमारा शरीर इन्हीं पाँच तत्वों (क्षिति अर्थात् पृथ्वी, जल, पावक (अग्नि), गगन (आकाश) और समीर (वायु) से निर्मित है। प्राणीमात्र की आवश्यकताएं एवं अपेक्षाएं इन्हीं पाँच महाभूतों से है। अथर्ववेद (18/1/17) में जल, वायु और पृथ्वी पर उगने वाली औषधियों को तीन छन्द पदार्थ बताया गया है जो सृष्टि के आदि से प्राणियों पर उपकार के लिए इस भुवन में स्थापित है। छंद नाम से पर्यावरण में सर्वत्र उपलब्ध उन पदार्थों की महत्ता को आज समझने और उनके संरक्षण की महती आवश्यकता है। जल पृथ्वी पर्वत, नदियां, समुद्र, वृक्ष, वनस्पतियां, वायु आदि जिस प्रकार प्रकृति की सम्पदा है उसी प्रकार प्राणी जगत् की भी हैं। जैसे प्राकृतिक तत्व एक-दूसरे के संरक्षण में सहायक है वैसे ही मनुष्य को भी उनका संरक्षक होना चाहिए।

'जल' को संस्कृत में आपो, अप्सर्, अम्भ, अम्भस्, सलिलम् इत्यादि कहा गया है। वेदवीथीपथिक पण्डित मोतीलाल शास्त्री कहते हैं कि भगवान् स्वयम्भू से सबसे पहले वायुमय जल उत्पन्न हुआ। जल सत्यस्वरूप स्वयम्भू का पहला अवतार है। श्रुति कहती है- **'तदयत् सत्यमपरापतत्। आपो ह वै सत्यम्। तस्माद् येनापोयानी तत् सत्यस्य रूपमित्याहुः। अपरा वास्य सर्वस्याग्रमकुर्वन्। तस्माद् यदैवापोयान्ति अथेदं सर्वं जायते यदिदं किञ्च इति।** (3/3/1/6) सत्य का वास्तविक रूप जल ही है। **'तत्-तत्र तदुक्तं विधं यत्, सत्यम् आप एव अर्थात् पूर्वाधिप्रकरणे आप सत्यमेव सत्यपदेनोक्तम्।**[1]

*एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कमला नेहरू कालेज (D.U) नई दिल्ली-49

आपो ह वै सत्यम्।

यह जल जिस ओर बहकर जाता है उस मार्ग को सत्य का रूप कहा जाता है। महर्षिगण जल के स्थान को सत्य का स्थान बताया करते थे। **'तस्माद् यदैव (येन मार्गेण) आपो यन्ति (गच्छन्ति) तत् स्थानं सत्यस्य (उदकात्मकस्य) सत्यस्य ब्राह्मणः रूपमित्याहुः ब्रह्मवादिनः।** श्रुति कहती है- सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि के पूर्व देवताओं अर्थात् स्वयम्भूमण्डलस्थ ऋषि नाम के प्राण देवताओं ने जल ही उत्पन्न किया। जल के आगे बढने पर ही सारा प्रपञ्च उत्पन्न होता है जो दिखलाई पडता है। जड-चेतन सभी का आदि पितर जल है। वृष्टि के होने पर ही औषधि, वनस्पति, सारे भूत उत्पन्न होते हैं। अप् स्वरूप पुरुष के वीर्य और स्त्री के गर्भाशय से निःसृत जल के मेल से ही गर्भस्थिति होती है, सृष्टि होती है।

तस्माद् यदेवोपयन्ति अथेदं सर्वं जायते यदिदं किञ्च इति ।

हिरण्यगर्भ सूक्त में कहा गया है कि प्रारम्भ में सर्वत्र जल ही जल था। जिससे हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई जो समस्त सृष्टि का मूलभूत कारण था। **आपो ह यद् वृहतीर्विश्वमायन गर्भं दधाना...ततो देवानां समर्वता सुरेक ...।**[2] नासदीय सूक्त में भी कहा गया है- **सलिलं सर्वमा इदम्।**[3] शतपथ ब्राह्मण में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है- **आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।**

जल से सारमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उससे अन्न की उत्पत्ति होती है और अन्न से अग्नि ऊर्जा का प्रादुर्भाव होता है। शुद्ध जल दीर्घायु और स्वास्थ्य प्रदाता होता है वह प्राणों का रक्षक और अमृतरूप है। यह अन्न, वनस्पति आदि का स्वामी है। यह मनुष्यों के लिए निवास देनेवाला और भैषज रूप है। **'ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणी नाम अपो याचामि भेषजम्[4]। अप्सु सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा अग्निञ्च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः[5]।**

अप्, वायु और सोम- इन तीनों का समष्टि ही परमेष्ठि है। ये सूर्य के ऊपर सत्यपिंड रूप में अवस्थित है। सूर्य और स्वयम्भू के मध्य में अन्तरिक्ष में आपोमय, वायुमय एवं सोममय विष्णु नामक यज्ञक्षर है, वही परमेष्ठि कहलाता है। हम दैनन्दिन जीवन में जिस जल का उपयोग करते हैं वैसा जल उस परमेष्ठि में नहीं है अपितु वह वायुमय है। यह वायुमय आप् तीन प्रकार का है १. आप्य, २. वायव्य और ३. सौम्य। स्वयम्भू से नीचे स्थित परमेष्ठी वायु त्रिविध है। इसी पर स्वयम्भू के चित् का प्रतिबिम्ब पडता है। इस चित् के प्रतिबिम्ब अथवा चिदाभास को जीवात्मा कहते हैं। सारे ब्रह्माण्ड में चित् का प्रतिबिम्ब केवल जल, वायु और सोम पर पडता है। अतएव संपूर्ण ब्रह्माड में जीव भी तीन प्रकार के है। १.आप्य जीव- जल में रहने वाले मत्स्यादि। २. वायव्य जीव- हम मनुष्य पशु-पक्षी आदि। ३. सौम्य जीव- चन्द्रमा की चाँदनी में रहनेवाले जिसे देवता कहा जाता है।

जल नामक वायु से जल उत्पन्न होता है। वायु वायु ही रहता है और सोम नामक वायु से अग्नि प्रज्वलित होती है। दाह्य वायु का नाम सोम है जिसे ऑक्सीजन कहा जाता है। अग्नि में नहीं जलने वाला आप्य वायु जल है जिसे हाइड्रोजन कहा जाता है। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के मेल से ही पीने का स्थूल पानी (H20) उत्पन्न होता है। जो तीसरा वास्तविक वायु है वह नाइट्रोजन है। इसे शिव कहते है। इस परमेष्ठी में

एक चौथी चीज भी होती है जिसे अङ्गिरा कहते हैं। अङ्गिरा अर्थात् पृथ्वी में से निकलने वाली अग्नि- **इतरात् उदारूहन् दिवः पृष्ठान्यारुहत।**[6] अङ्गिरा को कार्बन कहा जाता है जो अग्नि-यम-आदित्य तीन प्रकार का है। सम्पूर्ण संसार में जल-वायु-अग्नि-सोम-यम-आदित्य ये छः पदार्थ ही व्याप्त हो रहे हैं। इनमें जो जल है, जिससे जल उत्पन्न होता है, उस वायु को अम्भः कहते हैं। **अदोम्भः परेण दिवि।** जो सोम वायु है उसे पवमान कहते हैं। सोम का काम है संसार में पवित्रता रखना फिल्टर करना।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वसतः।
अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते श्रृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत।[7]

तीसरा तत्त्व वायु अर्थात् शिव (जिसे पौराणिक साम्ब सदाशिव कहते हैं) एक प्रकार की अग्नि है जो यमराज रूप है। सूर्यातप की प्रखरता के कारण यह वायु यमराज कहलाता है। यह परमेष्ठि के जल के सम्बन्ध से रूद्रभाव को छोडकर शान्त हो जाता है।

हमारा शरीर अनेक प्रकार के जल ग्रहण करता है और समयानुसार उसका उत्सर्जन भी करता है। जल प्राप्ति का मुख्य स्रोत वर्षा है। अन्य स्रोत जलाशय, नदी, बावडी (वापी), तालाब, कुआँ, नलकूप, बोरिंग (बोरवेल) इत्यादि हैं। इन सभी जलस्रोतों का सम्बन्ध भूगर्भ से है। भूमिगर्भ में जल-शिराएं चतुर्दिक् प्रसृत हैं जो हमें विभिन्न स्रोतों द्वारा जल उपलब्ध कराती हैं। भूगर्भस्थ और आकाश (वर्षा) सम्बन्धित जलज्ञान के प्राचीन सिद्धान्त जो हमारे पूर्वज त्रिकालज्ञ तत्त्वदर्शी ऋषि-मुनि एवं आचार्य द्वारा समय-समय पर दिया गया है वह आज भी प्राणीमात्र के लिए उपयोगी है।

आचार्य वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ वृहत्संहिता के वृष्टिगर्भलक्षणाध्याय में जल के स्वरूप, मात्रा, उत्पत्ति एवं गर्भधारण इत्यादि का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। वृहत्संहिता के २१ वें अध्याय से लेकर तीसवें अध्याय तक मेघ (जल) का वर्णन मिलता है जैसा कि अध्याय के नाम से भी ज्ञात होता है। यथा- गर्भलक्षणविचार, गर्भधारण-निरूपण, प्रवर्षणनिरूपण इत्यादि। गर्भधारण एवं प्रवर्षण के विषय में वराहमिहिर कहते हैं कि चंद्रमा के जिस नक्षत्र में होने से गर्भ की स्थिति होती है, चन्द्र के 195वें दिन में अर्थात् साढे छह महीने बाद उस जल का प्रसव (वर्षण) होता है। जिस पक्ष, दिन या रात्रि कोण तथा दिशाओं में गर्भधारण होता है। प्रसव सामान्यतः उसके ठीक विपरीत पक्ष, दिन या रात्रि अथवा पूर्वादि दिशाओं एवं कोणों (आग्रेय, वायव्य, ईशान, नैऋत्य) में माना जाता है।

'वृहत्संहिता' में अल्पकालिक वर्षा, दीर्घकालिक वर्षा, सुवृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष इत्यादि का भी विचार किया गया है। इसके 'कुसुमलताविचार नामक 29वें अध्याय में वर्षा के कारण भिन्न-भिन्न धान्य पदार्थों का वर्णन प्राप्त होता है जिनसे पृथ्वी में जल संचय होता है। साथ ही यव, धान्य, तिल, माष, कपास, अलसी (तीसी), हाथी, बकरी, भेड, गाय, केशर, व्यापार आदि की वृद्धि वर्णित है। उदाहरणार्थ- आम से मनुष्य का कल्याण, मल्लातक से भय, पीलु से आरोग्य, खैर तथा शामली से दुर्भिक्ष, अर्जुन, नीम आदि से सुवृष्टि होती है। इसमें यह भी बताया गया है कि जिस देश में वृक्ष, गुल्म और लताओं के पत्ते चिकने और छिद्रहीन होते हैं अथवा दिखते हैं उस देश में अच्छी वृष्टि होती है। लेकिन यदि पत्ते रूक्ष और

छिद्रयुक्त हों तो अल्पवृष्टि होती है।

आधुनिक युग के मनीषी एवं वेदवीथीपथिक पण्डित मधुसूदन ओझा ने स्वग्रन्थ कादम्बिनी के सिंहावलोक नामक अध्याय में चान्द्रनाक्षत्रिकम् के अन्तर्गत प्रत्येक मास की विशेष परीक्षा करके वृष्टि, सुवृष्टि, अनावृष्टि, अतिवृष्टि का निर्देश अथवा पूर्वानुमान किया गया है[8]। उदाहरणार्थ-

विद्युन्न स्पन्दते चैत्रे वैशाखोपक्रमे जलम्। अत्युग्रस्तपति ज्येष्ठे, तदात्यन्तं सुवृष्टयः[9]।। **तथा च शैत्येन कम्पनं चैत्रे वैशाखे करकाझटो। ज्येष्ठे चेन्निर्मले व्योमं तदा वर्षा भविष्यति** ।।[10]

अर्थात् चैत्र में बिजली न चमके, वैशाख के प्रारंभ में जल बरसे और जेठ अधिक तपे तो अत्यंत सुवृष्टि होती है। यदि चैत्र में ठण्ड के कारण शरीर कांपने लगे, बैशाख में ओलों की झडी लगे और जेठ में आकाश निर्मल रहे तो समझना चाहिए कि वर्षा अच्छी होगी। जलस्रोत के विषय में वराहमिहिर बताते हैं कि यह स्वच्छ, गहरा, विस्तृत, निर्मल और खुला होना चाहिए। जल की निकासी के विषय में आचार्य कहते हैं **—द्वारं च नैर्वाहिकमेकदेशे कार्यं शिलासञ्चितवारिमार्गम्।**

कोशस्थितं निर्निवरं कपाटं कृत्वा ततः पांशुभिरावपेत्तम् ।।[11] अर्थात् बावडी के एक ओर पत्थरों से चुना हुआ, तली को समतल बनवाकर, लकडी के बिना छिद्रों वाले तख्ते से रोकने या बन्द करने की व्यवस्था से युक्त, मिट्टी से ढका हुआ पानी की निकासी का मार्ग बनवाएं। वृक्षायुर्वेदाध्याय में वृक्षारोपण के लाभ, उद्यान के योग्य भूमि, लगाने योग्य वृक्ष, तने में लगाने योग्य वृक्ष, वृक्ष लगाने की ऋतु पेड का स्थान परिवर्तन, रोपण विधि, सिंचाई के नियम, जलीय प्रदेशों के वृक्ष, पेडों में परस्पर अन्तर, दूरी का लाभ, पेडों के रोग एवं उनकी चिकित्सा, उत्तम फल लगाने के उपाय, अच्छी वृद्धि के लिए बीज संस्कार विधि, इमली लगाने की विधि, वृक्षारोपण के नक्षत्र इत्यादि का वर्णन किया गया है।

जलशुद्धि के विषय में वृहत्संहिता' में अनेक उपाय बताए गए है। उदाहरणस्वरूप- प्रथम विधि में कहा गया है कि अञ्जन, मोथा, खस, राजकोशातक (तोरई), आंवला, कतक (निर्मली) का चूर्ण समभाग में लेकर कूप (जलस्रोत) में डालना चाहिए। इससे गंदा, कडवा, नमकीन व बेस्वाद जल भी उत्तम, स्वादिष्ट, शुद्ध, स्वच्छ एवं सुगन्ध युक्त हो जाता है। साथ ही जल का खारापन भी दूर हो जाता है।[12] खारे पानी को शुद्ध एवं स्वच्छ करने के लिए दूसरी विधि यह बताई गई है—

क्षारं पयो यत्र च तत्र कूपे करोतिमिष्टं खदिरं चूर्णम्।
यत्राविलं तत्र पलाशभस्मक्षेपात्पय निर्मलतां प्रयाति ।।[13]

अर्थात् कूप में यत्र तत्र खैर का चूर्ण डालने से खारा पानी मीठा हो जाता है तथा गन्दे पानी में पलाश का भस्म डालने से जल स्वच्छ हो जाता है। आगे कहा गया है- **भवति ककुभमुस्तोशीरधात्रीफलानां कतकफलसमेत लोहराजादनानाम्। सलिलमपि च चूर्णे वापिकादी हि मुक्ते मलिनकटुकुगन्धमिष्टमच्छं सुगन्धम्** [14]।। अर्थात् ककुभ (अभ्रक), मोथा, खस, धायफल, कतकफल, लौह, राजादन का चूर्ण वापी आदि में डालने से मेला, कडवा और दुर्गंधयुक्त जल मीठा, स्वच्छ और सुगन्धयुक्त हो जाता है। साथ ही जलहरड, कूट, इलायची, कतकफल का चूर्ण, खैर का सार और श्रीफल

डालने से भी खारा व दुर्गन्धयुक्त जल मीठा और सुगन्धित हो जाता है।[15]

पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए प्रकृति और मानव के बीच पारस्परिक सन्तुलन अति आवश्यक है। शुद्ध हवा, जल, पृथ्वी, पेड-पौधों आदि के बिना मानव जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। हजारों वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों ने इस सत्य को भली-भांति समझ लिया था। उन्होंने मन्त्रों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों और तत्वों की देवताओं के रूप में स्तुति की है। यथा- **उतवात् पितासि नः**[16]। (हे वात। तुम हमारे पिता हो।) **शतं वो अम्बधामानि**[17]। (हे मातृरूप औषधियों तुम्हारे सैकड़ों जन्म स्थान हैं।) **माताभूमिः पुत्रोऽह पृथिव्याः**[18]। यो व शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः[19]।

संरक्षित एकत्रित जल का उपयोग लोग कृषि सिंचाई आदि विभिन्न क्षेत्रों में वर्ष भर किया करते थे। विशेष रूप से राजस्थान के जैसलमेर में आज भी जलचक्र को समझकर बरसात का पानी इकट्ठा कर भूजल भण्डार सुरक्षित कर लिया जाए तो पानी की समस्या बहुत हद तक हल हो सकती है। जल संरक्षण के लिये तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है- **नाप्सुमूत्रपुरीषं कुर्यात्**[20]॥ मल-मूत्र त्याग, पशु को नहलाना, गंदे कपडे धोना, शव फेंकना, कल-कारखानों के अपशिष्ट एवं प्रदूषित पदार्थों आदि से जलस्रोतों को बचाना ही जल संरक्षण का मूलभूत सिद्धान्त है।

जलस्रोतों को प्रदूषित नहीं करना चाहिए क्योंकि सर्वप्रथम धार्मिक दृष्टि से ऐसा करना अनुचित है। भारतीय संस्कृति में नदियों और समुद्रों को देवी-देवताओं के रूप में पूजा गया है। ऋग्वेद में विश्वामित्र ऋषि नदियों से कहते हैं- **उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत। मादुष्कृतौ व्येनसान्यौ शूनमारताम्**[21]। हे नदियो तुम लोगों के ऐश्वर्य को बढाती रहो और स्वयं भी वेग से बहती रहो भरपूर प्रवाह से युक्त होकर तुम्हारी लहरें ऊर्ध्व यज्ञस्तम्भ से टकराती रहें अर्थात् तुम्हारे किनारों पर सदा यज्ञ होते रहे एवं कृषक सदा अच्छी खेती करने में संलग्न रहें। तुम पाप और मलिनता से रहित रहो। हमेशा कल्याणकारी कर्मों को सम्पादित करो और समृद्धि को प्राप्त होओ। तुम किसी प्रकार की हिंसा के अयोग्य हो।

नदी के जल का दुरुपयोग करना ही हिंसा है। जल के समुचित उपयोग में जन-समृद्धि एवं कल्याण निहित है- **आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्**[22]। प्रदूषित जल से बीमारियां होती है, संक्रमण फैलता है न केवल मनुष्यों अपितु पशु, जल में रहने वाले वत्तख एवं मत्स्यादि भी उससे आक्रान्त हो जाते हैं। ऐसे प्रदूषित जल के सेवन से मनुष्य एवं पशु रोगग्रस्त होते हैं। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से भी जल प्रदूषित करना अनुचित एवं हानिकारक है। पवित्र स्थलों पर गन्दगी फैलाने से जल प्रदूषण के साथ-साथ सामाजिक पर्यावरण भी प्रभावित होता है। अतः एव जल के संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु ऋषियों ने अनेक सूक्तों में बारम्बार प्रार्थनायें की हैं।

सन्दर्भ -

1. द्रष्टव्य - परमेष्ठीकृष्णरहस्य पंडित मोतीलाल शास्त्री, प्रथम संस्करण, पृष्ठ--22
2. ऋग्वेद 10/121/7
3. वही. 10/129/3

4. वही 10/9/5
5. वही, 1/23/20
6. द्रष्टव्य परमेष्ठीकृष्णरहस्य : पंडित मोतीलाल शास्त्री प्रथम संस्करण, पृष्ठ-18
7. वही, पृष्ठ 26
8. कादम्बिनी : पंडित मधुसूदन ओझा, अध्याय--सिंहावलोक, चान्द्रनाक्षत्रिकम्, श्लोक संख्या--592--600
9. वही श्लोक संख्या - 597
10. वही श्लोक संख्या --598
11. वृहत्संहिता : वराहमिहिर, दकार्गलाध्याय 54/120
12. वही 54/121
13. वृक्षायुर्वेद, जलाश्रयनिरूपणम्, 36
14. वृक्षायुर्वेदाध्याय, 37
15. वही 38
16. ऋग्वेद 10/186/2
17. वही, 10/97/2
18. अथर्ववेद. 12/1/
19. ऋग्वेद 10/9/2
20. तैत्तिरीय आरण्यक 1/26/7
21. ऋग्वेद, 3/33/13
22. ऋग्वेद, 10/137/6

समासगत उदात्तादिस्वर हेतुक अर्थभेद

· डॉ. करुणा आर्या*

शोधसार –

पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रों को जानकर ही हम वेद ज्ञान को सुगम बना सकते हैं। व्याकरण के स्वरविधान को अध्ययन-अध्यापन में लाकर वेदार्थ वास्तविक रूप से सार्थक होगा। स्वर के आश्रय बिना मन्त्रांशों को समझ पाना दुरूह है। संस्कृत व्याकरण में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिन्हें बिना स्वरार्थ समझे प्रयोग करने पर लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना होती है। इन्दशत्रुः, स्थूलपृषती आदि उदाहरण स्वर भेद से अर्थ भेद को प्रकट करते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में समासगत उदात्तादि स्वरों के परिवर्त्तन से अर्थभेद की विवेचनात्मक समीक्षा की गयी है।

बीजशब्द – उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, समास, तत्पुरुष, बहुव्रीहि, द्वन्द्व, अव्ययीभाव, पाणिनि, वेद, अर्थभेद, स्वर, वैदिक शब्द।

संक्षेप संक्षिप्तीकरण[1] को समास कहते हैं। प्रत्येक संक्षेप को समास नहीं कहा जाता है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से दो अथवा दो से अधिक पद मिलकर जब एक हो जाते हैं तब वह समास कहलाता है। समास हो जाने पर उन समस्यमान पदों की अपनी- अपनी विभक्तियाँ प्रायः लुप्त हो जाती हैं। पुनः उस शब्द को प्रातिपदिक मानकर पुनः विभक्ति आती है जिससे समस्त पद की निष्पत्ति होती है[2]। स्वर[3]-प्रक्रिया में इस समस्त पद को एकपद मानकर ही उदात्तादि स्वर लगाये जाते हैं। काशिकाकार कहते हैं कि समास का प्रयोजन ही है कि एकपद और एकस्वर हो जाना। यथा- राजपुत्रः। राजपुरुषः। कृष्णश्रितः। हतमातृकः, उग्रबाहुः आदि।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से स्वर तीन होते हैं[4]। उदात्तादि स्वर वर्ण[5] धर्म हैं। इनके उच्चारण प्रकार से भेद स्पष्ट होना चाहिए किन्तु आजकल इस प्रकार के उच्चारण में कुछ गिने चुने महाराष्ट्रीय वेदपाठी एवं दाक्षिणात्य वेदपाठी ही जो कि श्रोत्रिय परम्परा में पोषित एवं पल्लवित हैं वही समर्थ हैं। इन्हीं स्वरों का अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है। नाम-आख्यात[6] की पहचान में स्वर अत्यन्त उपादेय हैं। यथा-– **स कर्ता॥ स कंर्ता॥** ये दोनों आकृतियाँ लिपि में एक जैसी हैं किन्तु यहाँ प्रथम **कर्त्ता,** तृन् प्रत्ययान्त पद आद्युदात्त होने से नाम सुबन्त है और द्वितीय कर्त्ता पद अन्तोदात्त तिङन्त आख्यात है। यहाँ 'न लुट्'[7] के नियम से तिङन्त सर्वानुदात्त नहीं होता है। तृच् प्रत्ययान्त कर्त्ता शब्द भी अन्तोदात्त ही होता है।

*सहाचार्या, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भाषा का व्यवहार वाक्यों में होता है। वाक्य में नाम आख्यातादि पदों का प्रयोग होता है। प्रत्येक प्रकार के पद के लिये उदात्तादि स्वरों के नियम निर्धारित किये गये हैं। इन स्वरों के नियमों के आधार पर ही सस्वर पदों का उच्चारण करना चाहिये। अन्यथा स्वरदोष युक्त पदप्रयोग किस प्रकार घातक हो सकता है यह महाभाष्य के अधोलिखित प्रसङ्ग से समझा जा सकता है। यथा-**इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व–** यह समासान्त शब्द है इसमें स्वर के अपराध से अर्थात् अशुद्ध स्वरोच्चारण के कारण यजमान का ही विनाश हो गया।[8] ब्राह्मण ग्रन्थों में 'आख्यायिका' है कि त्वष्टा नामक असुर ने देवों से पराजित होकर वृत्र नामक असुर को उत्पन्न किया। इन्द्रादि देवों से युद्ध के पूर्व वृत्र ने स्वरबलवृद्ध्यर्थ यज्ञ किया। यहाँ बहुव्रीहि समास (इन्द्र है शत्रु= शातयिता मारने वाला जिसका वह वृत्र बढे) मानने पर पूर्वपदप्रकृतिस्वर होने से पद आद्युदात्त होगा तथा पद में तत्पुरुष समास मानने पर (इन्द्र का शत्रु शातयिता = नाश करने वाला वृत्र बढे) पद 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्त होगा। यहाँ होता की देवों से मिलीभगत होने के कारण इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व मन्त्र से आहुति देते समय अन्तोदात्त उच्चारण के स्थान पर आद्युदात्त इन्द्रशत्रु पद का उच्चारण किया गया। जिससे मन्त्र का अर्थ यजमान की कामना के विपरीत हो गया। इस कारण इन्द्र ने वज्र के प्रहार से वृत्र को नष्ट कर दिया। इस आख्यायिका में अन्तोदात्त के स्थान पर पूर्वपदप्रकृतिस्वर तथा तत्पुरुष की जगह बहुव्रीहि का प्रयोग करने से शब्द घातक हो गया।

इससे ज्ञात होता है कि यज्ञों में सस्वर मन्त्रोच्चारण होता था। अन्यथा स्वर अशुद्ध होने से यजमान के नाश की चर्चा क्यों होती। पुराकल्प में यज्ञों में मन्त्रोच्चारण का सस्वरपाठ होने की चर्चा शतपथ ब्राह्मण में भी की गयी है –– **वाचि स्वरमिच्छेत। तया स्वरसम्पन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्। तस्मात् स्वरवन्तं यज्ञे दिदृक्षन्त एव**[9], अर्थात् उस स्वर से सम्पन्न वाणी से ऋत्विग् कर्म करे। इसलिए प्रशस्त स्वरवाले को देखने की चाहना करते हैं।

'वीरपुरुषम्' इस समस्त पद का विग्रह भिन्न अर्थों की विवक्षा होने पर दो प्रकार से सम्भव हो सकता है अर्थात्- वीरपुरुषं गच्छ[10] - यहाँ भी समास भेद से दो प्रकार का स्वर होता है। बहुव्रीहि समास में वीरपुरुषाः यस्मिन् ग्रामे वसन्ति तं गच्छ अर्थात् वीर पुरुष जिस गाँव में हैं उसकी ओर जा तथा कर्मधारय तत्पुरुष में वीरश्चासौ पुरुषश्च अर्थात् वीरपुरुष को प्राप्त हो, ऐसा अर्थ होगा। यदि कोई व्यक्ति बहुव्रीहि समास मानकर पूर्वपदप्रकृतिस्वर उच्चारण के स्थान पर अन्तोदात्त स्वर उच्चारण करता है तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। पातञ्जल महाभाष्य में वर्णन आया है कि अशुद्धोच्चारण और अशुद्ध स्वर लगाने पर खण्डिकोपाध्याय शिष्यों को चपेटिका लगाते हुए कहते थे कि अन्यथा उच्चारण करता है[11]।

लौकिक संस्कृत में समास 5 प्रकार के हैं - केवलसमास, अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि और द्वन्द्व। वैदिक स्वर के सम्बन्ध में पाणिनि का सामान्य नियम है कि साधारण समास के अन्तिम अक्षर पर उदात[12] होता है और बहुव्रीहि समास[13] के पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है। यथा "राजपुरुषः", "कृष्णकम्बलः"। उच्चारण में स्वर भेद से समास भेद की प्रतीति होती है। जैसे स्थूलपृषती उदाहरण है- **स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती।** यह अन्तोदात्त होने से तत्पुरुष है।[14] **स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती,** यहाँ

पूर्वपदप्रकृतिस्वर[15] होने से बहुव्रीहि समास माना जायेगा है। महाभाष्य में यह उदाहरण व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन असन्देह के अन्तर्गत पठित है[16]। उत्तरपदप्रधान तत्पुरुष समास होता है, इस नियम से 'पृषती' के अर्थ की प्रधानता होगी अतः स्थूल का सम्बन्ध पृषती अनड्वाही 'गौ' से होगा न कि पृषती (काले धब्बों) के साथ। अर्थ हुआ काले धब्बों वाली गौ, न तु केवल पृषत् (धब्बे)। कर्मधारय तत्पुरुष होने पर स्थूल शब्द गौ की स्थूलता को बोधित करेगा। **स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती,** यह बहुव्रीहि समास है इसमें पूर्वपदप्रकृति स्वर है। यह पद अन्यार्थ को लक्ष्य कर रहा है। यहाँ गौ की प्रधानता है, कि ऐसी गौ जिसके काले धब्बे हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वर भेद से भिन्न समास होने पर अर्थ भेद हो जाता है।

हतमाता-हतमातृकः - हता माता यस्य सः हतमातृकः (जिसकी माता मर गयी है वह) यहाँ नद्यृतश्च[17] सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास में उत्तरपद के ऋकारान्त मातृ शब्द से कप् प्रत्यय होकर **हतमातृकः** शब्द बनता है। यहाँ **कप्** पित् होने से अनुदात्तौ सुप्पितौ[18] द्वारा अनुदात्त है। किन्तु वेद में **ऋतश्छन्दसि**[19] सूत्र से कप् का निषेध होकर हतमाता यह रूप बनता है इसका अर्थ भी वही है। यदि बहुव्रीहि के स्थान पर तत्पुरुष की विवक्षा हो तो विग्रह **हता चासौ माता च इति** होगा। जिससे अर्थ परिवर्तित होकर मरी हुई माता, ऐसा हो जायेगा। निष्कर्षतः यदि समास परिवर्तित करते हैं तो अर्थ और स्वर भी परिवर्तित होंगे। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में हतस्वसा, हतभ्राता, सुहोता इस प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं। वेद के **सप्तहोता**[20] पद में **सप्तहोतारः यस्मिन् स सप्तहोता यज्ञः** (सात होता विद्यमान हैं जिसमें) इस विग्रह द्वारा हतमाता की भाँति ही रूप बनता है। वहीं लोक में सप्तहोतृकः बनेगा। यदि लोक अथवा वेद में तत्पुरुष समास करेंगे तो सप्त चासौ होतारश्च (जो सात हैं और होता हैं) इस प्रकार विग्रह होने से अर्थ परिवर्तित हो जायेगा।

स्वर प्रक्रिया के अन्तर्गत समास के सूत्रों में पहला सूत्र **'समासस्य'** है जो सामान्यतः समास के पद को अन्तोदात का विधान करता है। बहुव्रीहि के सम्बन्ध में 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इसका प्रथम अपवाद (विशेष नियम) है। यहीं से इस प्रकरण के अपवाद सूत्रों का आरम्भ होता है। इसी प्रकरण में तीसरा सूत्र है **'तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया सप्तम्युपमानाव्यय-द्वितीयाकृत्याः**[21] **है।** तत्पुरुष समास में जो तुल्यार्थ, तृतीयान्त, सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय, द्वितीयान्त और कृत्प्रत्ययान्त पूर्वपद हो, तो उसमें प्रकृति-स्वर हो, ऐसा यह सूत्र कहता है। यथा - तुल्यश्वेतः, तुल्यलोहितः, तुल्यमहान् आदि इनमें कर्मधारयतत्पुरुष समास हुआ है तुल्यार्थ शब्दों के साथ। तृतीया तत्पुरुष के उदाहरण है- शङ्कुलाखण्डः। किरिकाणः। उपमानवाची – घनश्यामः।

राजपुरुष के राज शब्द में कनिन् प्रत्यय होता है। औणादिक 'युवृषितक्षि'[22]... सूत्र से कनिन् नित् होने से आद्युदात्त है। इसी प्रकार पुरुष शब्द भी 'पुरः कुषन्' औणादिक से कुषन् प्रत्यय के नित्[23] होने से आद्युदात्त है किन्तु राज्ञः पुरुषः - राजा का पुरुष (ष.त.) राजा और पुरुष दोनों का समास होने पर पृथक् स्वर प्राप्त होता है। अतः पाणिनि ने नियम बना दिया कि समास में अन्तिम अक्षर पर उदात्त होता है। ऋसमासे अन्तः उदात्तः स्यात्ऋ समास में अन्तोदात्त होता है। किन्तु बहुव्रीहि में इसका अपवाद है। 'उदात्तस्वरितयोगे पूर्वपदं प्रकृत्या स्यात्' कि उदात और स्वरित स्वर के योग में पूर्वपदप्रकृति का हो, जो उसकी प्रकृति है वैसी ही रहे।

यथा -कृष्णो मृगः इति। कृष्णो मृगः तस्य विकारः कार्ष्णः, यहाँ प्राणिरजतादिभ्योऽञ्[24] से अञ् प्रत्ययान्त ञित् स्वर आद्युदात्त है। उत्तरपद अन्तोदात्त है क्योंकि बहुव्रीहि समास हुआ है जिससे पूर्वपद आद्युदात्त है ।निष्कर्षतः यह पद आद्युदात्त ही रहेगा। महाभाष्यकार पतञ्जलि भी निर्दिष्ट करते हैं– **यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति**[25] अर्थात् यदि समस्त पद का पूर्वपद प्रकृतिस्वर है तो वह पद बहुव्रीहि समास वाला होगा और समस्त पद यदि अन्तोदात्त है तो वह तत्पुरुष समास वाला होगा।

शंकुलया खण्डः= सरौंते से किया गया टुकडा। यहाँ उत्तरपद टुकडे की प्रधानता है। यहाँ गुणवाचक शंकुलया इस तृतीयान्त का खण्ड इस समर्थ सुबन्त के साथ तृतीया तत्पुरुष समास हुआ है। शंकु उपपद रहते ला धातु से 'घञर्थ में कप्रत्यय ₹गतिकारकोपपदात् कृत्'[26] से उत्तरपद कृदन्त को प्रकृति स्वर से अन्तोदात्त होगा तब अर्थ होगा। किन्तु जब यहाँ समासान्त अन्तोदात्तत्व किया जायेगा तब अर्थ भिन्न होगा। शंकुलायाः खण्डः, शंकुलाखण्डः अर्थात् सरौंते के खण्ड। यहाँ तत्पुरुष तो होगा किन्तु वह षष्ठी तत्पुरुष होगा। अतः यह स्पष्ट है कि समासभेद से स्वरभेद और स्वरभेद से अर्थभेद हो जाता है।

घनश्यामः यह उपमानवाची पद 'मूर्तौघनः'[27] से 'अ'प्रत्ययान्त निपातित है। प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्तौ[28] सुप्पितौ से अनुदात्त होकर धातु स्वर से उदात्त हुआ है। घन इव श्यामः घनश्यामः, यह उपमानवाची तत्पुरुष यहाँ अन्तोदात्त है। जब–जब बहुव्रीहि या अव्ययीभाव कोई अन्य समास करेंगे तब भिन्नार्थ होगा यथा घनश्चासौ श्यामश्च इति घनश्यामः। घन भी वही श्याम भी वही यहाँ स्वर वही रहेगा।

प्रहृतः – गतिरनन्तर से जो कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद परे होने पर अनन्तर अर्थात् समीप गति हो तो वह प्रकृति स्वर हो। प्रहृतः में 'प्र' यह गतिसंज्ञक है। प्रादियों की गतिसंज्ञा होती है। हृतः में क्त प्रत्यय हुआ है। 'हृ' धातु के पूर्व में स्थित 'प्र' 'उपसर्गश्चाभिवर्जम् (फिट् सूत्र) से उदात्त है। अत एव प्रहृतः पद आद्युदात्त रहेगा। शीतभोजी, सोमयाजी आदि पद पूर्वपद आद्युदात्त के उदाहरण हैं। अष्टाध्यायी के सूत्र णिनि[29] - से णिनि प्रत्ययान्त उत्तरपद परे हो तो पूर्वपद- आद्युदात्त हो। भोजी में णिनि प्रत्यय हुआ है। अत एव पूर्वपद शीत का 'शी' उदात्त होकर यह पद आद्युदात्त हो गया है। इसी प्रकार द्वन्द्व, अव्ययीभाव, तत्पुरुष और इसके भेद के तथा बहुव्रीहि- द्विरुक्त समास, तथा शत्रन्तप्रधान समास के स्वर विधान हैं।

द्वन्द्व - में सामान्यतया अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है। यथा- अजावयः, सत्यानृते, अहोरात्राणि, इष्टापूर्तम्। इसके अपवाद भी हैं। जैसे- देवताद्वन्द्वे च देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में एक काल में दोनों शब्द प्रकृतिस्वर हों। यथा- 'मित्रावरुणौ, इन्द्रावरुणौ, द्यावापृथिव्यौ। इन सभी उदाहरणों में दोनों पदों में उदात्त लगा है। **मित्रा च वरुणश्च** इति मित्रावरुणौ यहां अर्थ हो रहा है **मित्रा और वरुण**। तत्पुरुष करेंगे तो मित्रस्य वरुणः यह विग्रह करेंगे तब अर्थ होगा मित्र का वरुण। द्वन्द्व समास में संख्यावाची पूर्वपद पर प्रकृति से उदात्त रहता है। यथा – एकादश।[31] अव्ययीभाव समास में सामान्यतया अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है। यथा - अनुकामम्, अधियज्ञम्, यथास्थानम् आदि।

अपवाद - कतिपय उदाहरणों में पूर्वपद पर उदात्त मिलता है यथा - अधिरथम्[32] (ऋ.) "रथ पर"। यहाँ **अव्ययीभाव में अधि इति** विभक्त्यर्थ में ऐसा विग्रह होगा। यदि **तत्पुरुष समास** करेंगे तो **अधिकः**

रथः यह विग्रह करके अर्थ होगा अत्यधिक साधन सम्पन्न तथा सुसज्जित रथ। इसी प्रकार अधियज्ञ शब्द है– अधियज्ञम् = यज्ञ में, यज्ञ है अधिकरण यह – विभक्त्यर्थ में **अव्ययं विभक्ति**[33]..., सूत्र से अव्ययीभाव समास हुआ। जब **अधिकः यज्ञः** यह विग्रह करेंगे तब समानाधिकरण तत्पुरुष समास होकर अधिक यज्ञ ऐसा अर्थ होगा।

भाषा के सुव्यवस्थित एवं अनुशासित प्रयोग के लिए वर्ण, स्वर, मात्रा, बल इन सबका पाठक को भली-भाँति ज्ञान होना चाहिए। स्वर वर्णों का स्वाभाविक धर्म है। यह वक्ता की विवक्षा के अधीन है। कहीं वृत्ति परिवर्तन से अर्थभेद प्राप्त होता है तो कहीं स्वरभेद से। जैसे –कृत्वृत्ति में स्वरभेद है पर यह कृत्य प्रत्ययों के कारण है। कृ+तव्यत्= कर्तव्यम्। कृ+तव्य= **कर्तव्यम्।** एक **तव्यत्**[34] प्रत्यय है दूसरा **तव्य** है। 'करने योग्य' यही अर्थ है दोनों का। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक ही समस्त पद में स्वर भिन्नता होने पर भिन्नार्थ की प्रतीति होती है। वेद में इसका पालन आज भी होता है। किन्तु पाणिनीय अष्टाध्यायी के अवलोकन से यह भी स्पष्ट होता है कि कभी सामान्य बोलचाल में भी एक ही समस्त पद में स्वर भेद से अर्थभेद की प्रतीति होती थी।

सन्दर्भ –

1. समसनं समासः।
2. पदानां लुप्यते यत्र प्रायः स्वाः स्वाः विभक्तयः । पुनरेकपदी भावः समास उच्यते तदा॥
3. समासस्य प्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यञ्च (काशिका)
4. उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः। अष्टा- 1/2/29, 1/2/30, 1/2/31
5. शतपथ ब्रा० 4/4/1-27
6. नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते। ऋग्वेदानुक्रमणी माधव कृत परिशिष्ट पृष्ठ CV1
7. अष्टा. 8/1/29–लुडन्त अनुदात्त नहीं होता है।
8. यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्। पा. महा. भा. दुष्टः शब्दः ।
9. शतपथ–14/4/1/27
10. अष्टा. 6/2/1
11. एवं हि दृश्यते लोके- य उदात्ते कर्तव्ये अनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति, अन्यत्वं करोषि इति। महा० 1-1-1
12. अष्टा. 6-1-218–समासस्य। समास को अन्तोदात्त हो जाता है।
13. अष्टा. 6-2-1–बहुव्रीहि प्रकृत्यापूर्वपदम् =बहुव्रीहि समास में जो पूर्वपद है वह प्रकृति स्वर को प्राप्त होता है।
14. अष्टा. 6-1-218–समासस्य=समास को अन्तोदात्त हो जाता है।
15. अष्टा. 6-2-1–बहुव्रीहौ प्रकृत्या पर्वपदम्=बहुव्रीहि समास में जो पूर्वपद है वह प्रकृति स्वर को प्राप्त होता है।
16. असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति स्थूलपृषतीमाग्निवरुणीमनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां संदेहः स्थूला चासौ।। (यहाँ विशेष स्वरतोऽध्यवस्यति - इससे स्पष्ट है कि वेदार्थ के जानने में स्वरशास्त्र का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है इसी कारण पाणिनि ने शब्दानुशासन में स्वरशास्त्र का विधान किया है और स्वर की दृष्टि से प्रत्ययों में अनुबन्ध लगाये हैं।)
17. अष्टा०5/4/153– नद्यन्त और ऋकारान्त शब्दों से बहुव्रीहि समास में कप् प्रत्यय होता है ।।
18. अष्टा०3/1/41– सुप् और पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं।
19. अष्टा०5/4/156 ऋकारान्त बहुव्रीहि समास में वेद विषय में कप् प्रत्यय नहीं होता है।
20. अष्टा० यजुर्वेद–34/4

21. अष्ट. 6/2/2– तत्पुरुष समास में जो तुल्यार्थ, तृतीयान्त, सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय, द्वितीयान्त और कृत्प्रत्ययान्त पूर्वपद हो, तो उस में प्रकृति-स्वर हो।
22. उणादि सूत्र - 6/5/51- बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का स्वर प्रकृति के अनुसार हो, अर्थात् अन्तोदात्त न हो
23. ञ्नित्यादिर्नित्यम् –6/1/192-ञित्, नित् प्रत्ययों के परे पूर्व प्रकृति को आद्युदात्त स्वर हो।
24. अष्टा. 4/3/152 –प्राणिवाची प्रातिपदिकों से और रजतादिगण में पठित शब्दों से अञ् प्रत्यय होता है।
25. महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ० १०
26. अष्टा. 6/2/139 –गति शब्द कारक और उपपद शब्दों से कृदन्त उपपद रहते उत्तरपद को तत्पुरुष समास में प्रकृति स्वर होता है।
27. अष्टा. 3/3/77- मूर्ति (काठिन्य) यह अभिधेय करके हन् धातु से अप् प्रत्यय होता है।
28. अष्टा. 3/1/41– सुप् और पित् प्रत्यय अनुदात्त होते हैं।
29. अष्टा. 6/2/79–णिनन्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्व पद को आद्युदात्त होता है।
30. अष्टा. 6/2/141
31. स्वरप्रकरण पृष्ठ 862 , वैदिक-व्याकरण, रामगोपाल।
32. स्वरप्रकरण पृष्ठ 862 , वैदिक-व्याकरण, रामगोपाल।
33. अष्टा०2/1/2
34. अष्टा०6/1/185 तित् स्वरितम्।

वैदिक वाङ्मय में पर्यावरणीय वैज्ञानिक चेतना

· डॉ. अभिमन्यु सिंह*

शोधसार –

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका होती है ये पंचतन्त्र अपने-अपने गुण के अनुसार स्थूल शरीर के पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से सम्बन्धित हैं। ये पाँचों तत्त्व पर्यावरण के पर्याय हैं। पर्यावरण विज्ञान का तात्पर्य पंचतत्त्वो को युद्ध एवं नैसर्गिक अवस्था में रखना। पंचतत्त्वो से निर्मित जड़ एवं चेतन पदार्थ वनस्पति और प्राणी हमारे पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। इनमें से किसी भी एक तत्त्व के दूषित होने पर पूरा पर्यावरण असंतुलित हो जाता है जिससे प्राणिमात्र पर कुप्रभाव पड़ता है। जिससे जीवन के लिए महान् संकट उत्पन्न हो जाता है। अतः पर्यावरण के प्रति सचेत रहने से ही प्राणिमात्र का कल्याण सम्भव है इसीलिए हमारे वैदिक ऋषियों के स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक दृष्टि की विचारधारा समृद्ध रही है जिसका उपस्थापन प्रस्तुत शोध पत्र में किया गया है।

बीजशब्द – पञ्चतत्त्व, ज्ञानेन्द्रिय, पर्यावरण, स्वस्ति, प्राण।

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका होती है ये पंचतन्त्र अपने-अपने गुण के अनुसार स्थूल शरीर के पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित है। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रूप एवं गन्ध से सम्बन्धित है। ये पाँचों तत्त्व पर्यावरण के पर्याय हैं।

पर्यावरण विज्ञान का तात्पर्य पंचतत्त्वों को शुद्ध एवं नैसर्गिक अवस्था में रखना पंचतत्त्वों से निर्मित जड़ एवं चेतन पदार्थ वनस्पति और प्राणी हमारे पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। इनमें से किसी भी एक तत्त्व के दूषित होने पर पूरा पर्यावरण असंतुलित हो जाता है जिससे प्राणिमात्र पर कुप्रभाव पड़ता है। जिसके कारण जीवन में महान संकट उत्पन्न हो जाता है।

आज विश्व में भू-भौतिक परिवर्तन के कारण उपस्थित पर्यावरण संकट की समस्या के समाधान का कोई भी उपाय विज्ञान और प्रोद्योगिकी के पास भी नहीं है, क्योंकि इन्हीं के कारण प्रकृति का अत्यधिक दोहन किया जा रहा है। यह दोहन-परम्परा ही वास्तविक पर्यावरण-संकट बन गया है। इसी कारण पर्यावरण मानव त्रासदियों में बदलता रहता है। इस वैश्विक संकट में सामाजिक एवं भू-भौतिक संरक्षण के लिए वैज्ञानिक रूप

*सहायकाचार्यः, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

से जागरूक होने की आवश्यकता है। अतः सर्वप्रथम पर्यावरण के अर्थ को समझना आवश्यक है।

संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से पर्यावरण शब्द परि+आ+वृ+ल्युट् से निष्पन्न हुआ है। इसमें परि शब्द का अर्थ चारों ओर से तथा आवरण का अर्थ है- 'ढके हुए या घेरे हुए अतः पर्यावरण का अर्थ है जो हमसे अलग होते हुए भी हमें चारों ओर से घेरे या ढके हुए। समझना यह है कि कौन आवृत किए हुए है? तथा किस प्रकार घेरे हुए हैं ? सम्पूर्ण पृथ्वी वायुमण्डल से आवृत्त है। इसी प्रकार धरातलीय जीव-स्थल, जल, वायु एवं उनके विभिन्न घटकों से आवृत्त है। पर्यावरण से तात्पर्य किसी वस्तु के पास-पड़ोस से है, उदाहरण के लिए- पेड़-पौधों का पर्यावरण वे भौगोलिक परिस्थितियाँ है जो उनकी वृद्धि एवं विकास में सहायक होते हैं।

ए. जी. टान्सले के अनुसार- 'पर्यावरण उन सम्पूर्ण प्रभावी दशाओं का योग है जिनमें जीव रहते हैं।' फिटिंग महोदय के अनुसार- 'पर्यावरण जीवों के परिवेशीय कारकों का योग है' तथा रोशे के अनुसार- 'पर्यावरण एक बाह्य शक्ति है जो प्रभावित करती है'

अतः पर्यावरण किसी एक तत्त्व का नाम नहीं अपितु अनेक तत्त्वों का समन्वित नाम है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी (जलमण्डल, स्थलमण्डल, वायुमण्डल व जैवमण्डल) तथा उनके विभिन्न घटकों को अपने में ढ़के हुए है जिसका प्रभाव एकाकी न होकर सम्मिलित रूप में होता है।

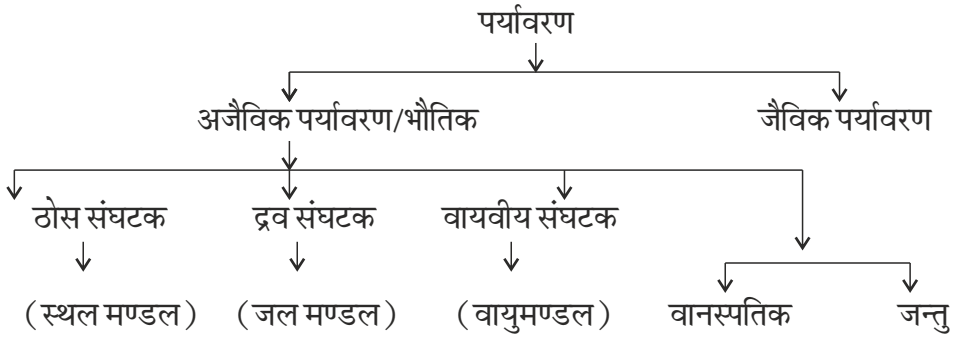

इस पर्यावरण व्यवस्था को मानवीय हस्तक्षेप ने विकृत करके विश्व के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न की है। इससे पर्यावरण में असन्तुलन उत्पन्न होने से मनुष्य के ही अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। इस असन्तुलन को स्थिर रखने में वैदिक-वाङ्मय का योगदान अनुकरणीय है। क्योंकि हमारे ऋषियों ने पर्यावरण की महत्ता को बहुत पहले ही जान लिया था। वेदों मे पर्यावरण की रक्षा का सन्देश दिया गया है कि आप अपना भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास करना चाहते हों तो प्रकृति के नियमों तथा संसाधनों की रक्षा करते हुए ही इसका सदुपयोग करो यही धर्म है-

तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।[1]

पर्यावरण की संरचना के आधार पर वैदिक ऋषियों द्वारा पर्यावरणीय वैज्ञानिक चेतना इस प्रकार देखी जा सकती है- सर्वप्रथम स्थल (भूमि) जो विश्व के समस्त जीवों की परिपोषित करने के साथ ही सम्पूर्ण सम्पदाओं एवं खनिजों को धारण करने वाली है, जिसको ऋषियों ने माता और मनुष्य को पुत्र कहा है-

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।[2]

प्रकृति/पर्यावरण के साथ मनुष्य का तादात्म्य वेद का विशेष पक्ष है। जल जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में से एक है। इसीलिए अक्षरसः सत्य है कि जल ही जीवन है। अथर्ववेद में जल की महत्ता प्रतिपादन करते हुए कहा गया। जल कल्याण कारक तेज प्रदायक, तृप्तिदायक है इसी को दृष्टिगत रखते हुए इसकी उपयोगिता के विषय में अथर्ववेद में कहा गया है।

आपो भद्रा घृतमिदाय आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वच्रसा गमेत्।[3]

जल मङ्गलमय और घी के समान पुष्टिदाता है तथा वहीं मधुरता भरी धाराओं का स्रोत भी है। भोजन के पचाने में जल उपयोगी है। इतना ही नहीं बल्कि जल प्राण एवं पौरुष को देने वाला तथा अमरता की ओर ले जाने वाला मूल तत्त्व है।

'वारिस्थलपथान्विता।'

इसी प्रकार पवन देवता को भी विश्व-भेषज कहते हुए कहा गया है कि वायु सब प्रकार की व्याधियों के शमन हेतु रामबाण औषधिक है-

वाता आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे प्रण आयूँषि तारिषत्।[4]

क्योंकि शुद्ध वायु अमूल्य औषधी है जो हमारे हृदय के लिए दवा के समान उपयोगी है, आनन्ददायक है तथा वायु को बढ़ाने वाली है। हमारे जीवन में अग्नि का विशेष महत्त्व है, इस कारण मङ्गलकारी अग्नि से प्रार्थना की गयी है-

सः नः पितेव सूनवेग्ने सूपायनो भव। सचस्वाः नः स्वस्तये।।[5]

अर्थात् हे अग्नि ! जिस प्रकार पुत्र पिता को प्राप्त कर लेता है, उसी तरह हम भी तुम्हे प्राप्त कर सकें, तुम हमारे अनायास लभ्य बनो और हमारा मङ्गल करने के लिए हमारे पास निवास करो। अग्नि सभी प्राणियों के लिए जीवन स्वरूप है-

तं पृच्छता स जगामा स वेद स चिकित्वाँ ईयते न्वीयते।[6]

अर्थात् अग्नि प्राणियों के प्राणरूप हैं। अग्नि ही ज्ञाता है, वे ही ज्ञेय हैं, वे ही चैतन्य हैं, वे ही यान हैं, वे ही शीघ्रगन्ता हैं, उन्हीं के पास शासन योग्यता है। वे ही अन्न, बल आदि के पालक हैं। इस सम्पूर्ण वातावरण में अग्नि ही अग्नि है, जो समुद्र के मध्य बड़वाग्नि रूप में, अन्तरिक्ष के मध्य सूर्य मण्डल के रूप में, हृदय के मध्य वैश्वानर रूप में, अन्न में आहार रूप में, जल में विद्युत रूप में और सङ्ग्राम में शौर्याग्नि रूप में विद्यमान है। अतः अग्नि सर्वत्र व्याप्त होने से पर्यावरण हेतु प्राणाधार हैं।

पर्यावरण अग्नि तत्त्व की दृष्टि से अथर्ववेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें विभिन्न मन्त्रों में अग्नि का वर्णन प्राप्त होता है-

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विष्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्।।[7]

अर्थात् सोम का हमारे लिए उपदेश है कि दिव्य आपः हर प्रकार से औषथीय गुणों से युक्त है। उसमें कल्याणकारी अग्नि भी विद्यमान है।

जठराग्नि के रूप में अग्नि-

आज्यस्य परमेष्ठिजातवेदस्तनूवषिन्।
अग्ने तौलस्य प्रषान यातुधानान् वि लापय।।[8]

उच्च पद पर आसीन, ज्ञान के पुंज, जठराग्नि के रूप में शरीर का सन्तुलन बनाने वाले हे अग्निदेव! आप हमारे द्वारा सुरवापात्र से तौली हुई प्रदत्त आज्याहुति को ग्रहण करें। हमारे स्नेह से प्रसन्न होकर आप दुष्ट-दुराचारियों को विलाप करायें अर्थात् उनका विनाश करें।

विलसन्तु यातुधाना अत्रिणो ये विमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रष्च प्रति हर्यतम्।।[9]

दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले, अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले समाज के शत्रुओं को अपना विनाश देखकर रूदन करने दें। हे अग्निदेव ! आप इन्द्र के साथ हमारे हवि को प्राप्त करें। हमें सत्कर्म की ओर प्रेरित करें।

प्रकाश रूप में अग्नि-

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्रणो बूरहि यातुधानान् नृचक्षः।[10]

हे ज्ञान स्वरूप अग्निदेव ! आपका प्रकाश रूपी पराक्रम हम देखें। आप पक्ष भ्रष्टों के मार्गदर्शक हैं, अपने प्रभाव से दुष्टों को हमारे शत्रुओं को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें।

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः।[11]

हे प्रकाश पुंज अग्ने! आप पथभ्रष्ट जनों की सन्तानों तक सुदूर गुफा में पहुँचकर अपने दिव्य प्रकाश से उन्हें सन्मार्ग दिखायें, इस प्रकार आप सबके कष्टों को दूर करें।

आकाश मानव जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला है। वह वायु, अग्नि आदि समस्त तत्त्वों को अपने गर्भ में धारण करता हैं आकाश में ही समस्त प्रकार के देवताओं का निवास है। हमारे द्वारा प्रदान की गयी सभी प्रकार की आहुतियाँ आकाश में समाहित होकर देवताओं को प्राप्त होती हैं। हम मन से प्रार्थना करते हैं कि हमारी हवियों को द्युलोक आदि दिव्य तत्त्वों तक पहुँचाए, जिसमें हम सभी का कल्याण हो-

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते था स्वाहा।[12]

अर्थात् हे मन के स्वामी! आप हमारे इस यज्ञ की द्युलोक में देवताओं तक पहुँचाएं एवं पृथिवी अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं समस्त वायुमण्डल में इसे स्थापित करें। यह आहुति भली प्रकार से समर्पित हो। इस प्रकार की पवित्र भावना को प्रस्तुत करते हुए ऋषि का यह हम सभी के प्रति एक सन्देश है, ताकि हम अपने संरक्षण के तत्त्व द्युलोक को स्वच्छ रखें और स्वयं का कल्याण करें। परन्तु आज हम अपने ही शत्रु बन गए हैं, हम अपने भौतिक सुखों हेतु उन सभी तत्त्वों को नष्ट कर रहे हैं जो हमारे रक्षक हैं, परन्तु हम उनके भक्षक बनते जा रहे हैं, जो हमारे विनाश का कारक हैं।

हम निरन्तर समस्त लोकों को प्रदूषित करते जा रहे हैं। आज पृथिवी से अन्तरिक्ष तक मनुष्य का प्रवेश हो गया है। जिसके कारण सम्पूर्ण वायुमण्डल प्रदूषित हो रहा है। आकाश अपने आप में शून्य है। वह वायु एवं ताप के आवरण से आवृत्त है। वायु एवं ताप के कार्य ही आकाश में सम्पादित होते हैं। उस वायु से मनुष्य एवं जीव-जन्तु प्रभावित होते हैं। इनका जीवन वायु पर ही आधारित है। यदि वायु प्राप्त न हो तो जीवों का जीवित रहना सम्भव नहीं है। जहाँ पर वायु होती है, वहीं पर जीवन होता है। यदि मनुष्य उन क्षेत्रों में जाता है, जहाँ वायु नहीं रहती तो उसे कृत्रिम वायु का आश्रय लेना पड़ता है। वायु के प्रदूषित हो जाने पर आकाश भी प्रदूषित हो जाता है। यदि वायु प्रदूषण रहित हो तो आकाश भी प्रदूषण मुक्त हो जाएगा।

यदि आकाश प्रदूषित हो जाये तो आकाश से सम्बन्धित जितने भी तत्त्व हैं, वह सभी प्रदूषित हो जाते है क्योंकि आकाश तत्त्व का प्रभाव अन्य तत्त्वों पर भी पढ़ता है। प्रदूषित आकाश से कभी-कभी अम्लीय वर्षा भी होती है, जिससे जल के जीव नष्ट हो जाते है और भूमि की उत्पादकता समाप्त हो जाती है। उस स्थान के वृक्ष भी नष्ट हो जाते हैं, जिससे जीवों को शुद्ध वायु नहीं मिलती। इसी प्रकार अग्नि तत्त्व भी प्रदूषित हो जाता है, जिससे आकाश का ताप असन्तुलित को जाता है। इस ताप को जीव सहन नहीं कर पाते और छोटे तथा अत्यन्त सूक्ष्म जीव नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण आकाश तत्त्व की रक्षा हमारा श्रेष्ठतम् कर्तव्य है। अथर्ववेद में आकाश का वर्णन द्युलोक एवं अन्तरिक्ष आदि पर्याय शब्दों के रूप में किया गया है। सर्वप्रथम ऋषि इन समस्त द्यावा-पृथिवी आदि कल्याणकारक तत्त्वों को नमन करते हैं-

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे।
मेक्षाध्वंस्तिष्ठन् मा मा हिसिपुरीश्वराः।।[13]

अर्थात हम द्यावा, पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं मृत्यु को नमस्कार करते हैं। इनके स्वामी अग्नि, चाणु और सूर्यदेव सहित मृत्यु हमारा वध न करे, हम सभी दीर्घकाल तक कल्याणपूर्वक इसी लोक में विचरण करें। द्युलोक और पृथिवी लोक को स्वामिनी रूप में स्वीकार किया गया है-

द्यावापृथिवी दातृणामभिपत्नी ते मावताम्।[14]

अर्थात द्युलोक और पृथिवी लोक दाताओं की स्वामिनी है। वे इस पौरोहित्य कर्म में, प्रतिष्ठा में चिति में, सङ्कल्प में, देव आह्वान में तथा आशीर्वाद सम्बन्धी कर्म में हमारी सुरक्षा करें। हम अपनी आहुतियों द्वारा अन्तरिक्ष में प्राण वायु को पवित्र करते हैं-

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा।[15]

अर्थात् जीव मात्र में संचरित होने वाले जीव मात्र को चैतन्य करने वाले प्राण के लिए तथा उसके विचरण-स्थान अन्तरिक्ष के लिए आहुतियाँ समर्पित हैं। अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले पक्षी और उसके अधिष्ठाता देव तथा वायु के लिए आहुतियाँ समर्पित हैं।

वायु एक ऐसा तत्त्व है जिसमें प्रत्यक्ष रूप से प्राण अर्थात् जीवन है। बिना वायु के सभी तत्त्वों के होने पर भी कोई मौलिकता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए हम सभी को पृथिवी से अन्तरिक्ष तक व्याप्त वायु तत्त्व को विभिन्न प्रकार की आहुतियों से स्वच्छ एवं पवित्र रखना चाहिए। हम प्रार्थना करते हैं कि ये तत्व हमें अभय

प्रदान करें, पुरुष और वृक्ष में समान तत्त्व विद्यमान है इसलिए हमें सह-अस्तित्व और पंचशील के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए-

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका वहिः[16]

वृक्षों के पत्ते होते हैं और पुरुष के शरीर में पत्तों के स्थान पर रोए होते हैं। पुरुष के शरीर में त्वचा है उसी प्रकार वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है। जो सभी जन्तुओं को आक्सीजन प्रदान करते है। वृक्षों में सबसे अधिक आक्सीजन पीपल में प्राप्त होती है। इस विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं-

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां[17]

सभी वृक्षों में मैं पीपल हूँ अतः पीपल का वृक्ष सभी वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ है। वृक्षों से प्राप्त आक्सीजन से ही पृथ्वी पर पाये जाने वाले सूक्ष्म एवं विशालकाय प्राणियों का जीवन सम्भव है जिनका पर्यावरण को स्वच्छ एवं सन्तुलित रखने में विशेष योगदान है। जन्तु वर्ग में ऐसे अनेक जन्तु है जो पृथ्वी पर पाये जाने वाले अपशिष्ट पदार्थों (गन्दगी) का भक्षण करते हैं जिससे पर्यावरण शुद्ध होता है। अतः जन्तुओं की सुरक्षा करना और हिंसक गतिविधियों को रोकने का परम कर्तव्य मानव का है क्योंकि सभी जीवधारियों में मानव सबसे बुद्धिमान प्राणी है, जो वेदों में निर्दिष्ट उपायों का पालन कर पर्यावरण को संतुलित कर अपने को कृतार्थ कर सकता है यथा-

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पषुः।
यत्रेदं ब्रह्मा क्रियते परिधिजीर्वनाय कम्।।[18]

सूक्ष्माति सूक्ष्म जीव जिन्हें सूक्ष्मदर्शी से देखा जा सकता है। वे भी पर्यावरण के प्रमुख अंग हैं। जीव प्रदान करने वाली जो शक्ति है ऐसी परिधि में प्रकृतिपुरुष के संसर्ग से ब्रह्मतत्त्व रचा जाता है। उनमें गाय, पशु, पुरुष, वनस्पति आदि का प्रादुर्भाव होता है। इन जीवों की हिंसा का वेद में कोई स्थान नहीं है जिसका स्पष्टतः संकेत प्राप्त होता है-

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विष्वतः परिभूरसि।
सः इद्देवेषु गच्छति।।[19]

हिंसादि से दूर रहने अथवा उन्हें सम्पादित न करने के कारण ही वे यज्ञ देवों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों ने द्युलोक से लेकर मनुष्य तथा सम्पूर्ण भूतों के कल्याणार्थ जो प्रार्थना की है-

ऊँ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विष्वेदवाः शान्ति।[20]
ब्रह्म शान्तिः सर्व शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।''[20]

इस प्रार्थना से ही स्पष्ट होता है कि वैदिक कालीन ऋषि पर्यावरण को संरक्षित रखने के लिए स्वाभाविक चिन्तन के सहित वैज्ञानिक दृष्टि से भी सचेत थे।

सन्दर्भ -

1. ऋग्वेद १०/९०/१६
2. अथर्ववेद १२/१/१२
3. अथर्ववेद ३/१३/५
4. ऋग्वेद १०/१८६/०१
५. ऋग्, १/१/९
६. ऋग्, १/१४५/१
७. अथर्ववेद, १/६/२
८. अथर्ववेद, १/७/२
९. अथर्ववेद, १/७/३
१०. अथर्ववेद, १/७/५ (द्रष्टव्य मन्त्र, १/७/६,७)
११. अथर्ववेद, १/८/४
12. अथर्व ७/१०२/८
13. ऋग्वेद ७१०७/१
14. अथर्ववेद ५/२४/३
१५. अथर्ववेद, ६ / १०/२
16. बृहदारण्यकोपनिषद ३/१
17. गीता ३/१४
18. अ० ८/२/२५
19. ऋग्वेद १/१/४
20. यजुर्वेद ३६/१७

मृच्छकटिकम् में नारी पात्रों की सामाजिक स्थिति

· डॉ. सन्त प्रकाश तिवारी*

शोधसार –

संस्कृत साहित्य में नारियों की स्थिति का विवेचन अत्यन्त विशद रूप में प्राप्त है। संस्कृत नाटकों में नारी विषयक दृष्टिकोण उदार एवं विशाल था, जहाँ नारी एक ओर वात्सल्य की प्रतिमूर्ति है वहीं दूसरी ओर उसमें त्याग एवं समर्पण की भावना भी विद्यमान है। मृच्छकटिकम् महाकवि शूद्रक का अद्वितीय प्रकरण है जिसके सभी पात्र सार्वभौमिक हैं। इस प्रकरण की नायिका वसन्तसेना उज्जयिनी नगरी का भूषण है। उदारता की स्रोतस्विनी है और सौजन्य की सरिता है। गणिका होने की कालिमा को प्रक्षालित करके एक साध्वी नारी के पद को अलङ्कृत करती है। धूता जो चारुदत्त की विवाहिता पत्नी है वह अपकीर्ति भीता है उसका हृदय लोभ शून्य है वह पति की चिन्ता में प्राणोत्सर्ग हेतु तत्पर रहती है उसका चरित्र एक सच्ची भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करता है।

बीजशब्द – नारी, समाज, जाया, भार्या, गणिका, परिणीता, भगिनी, नगरवधू, रूपाजीवा, सती प्रथा, पतिव्रता।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज का साहचर्य उसके लिए अत्यावश्यक है। व्यक्ति की जैसी प्रवृत्ति होती है वैसी ही प्रवृत्ति समाज की भी होती है। एक से अधिक लोगों के द्वारा बने एक बृहद समूह को समाज कहते हैं, जिसमें व्यक्ति मानवीय क्रियाकलाप करते हैं। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण, सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह आदि की क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। किसी समाज के व्यक्ति एक दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा सहृदयता का भाव रखते हैं। जैसा कि मैकाइवर एवं पेज कहते हैं, **''समाज कार्यप्रणालियों का, रीति-रिवाजों का, अधिकार एवं सत्ता के पारस्परिक सहयोग का, विविध समूहों और श्रेणियों के मानव व्यवहार के नियन्त्रण एवं स्वतन्त्रता का एक व्यवस्थित स्वरूप है।''**[1] ग्रीन के अनुसार, **''समाज एक समूह है कोई भी व्यक्ति जिसका सदस्य हो सकता है। समाज जनसङ्ख्या, सङ्गठन, समय, स्थान और स्वार्थों से बना होता है।''**[2] इस तरह समाज सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब एवं पथप्रदर्शक है। साहित्य समाज का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। समाज और साहित्य परस्पर ऐसे ही अन्योन्याश्रित हैं जैसे साङ्ख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष। साहित्य अपने विषय-

*सहायक आचार्य, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

वस्तु हेतु समाज की ओर उन्मुख होता है तो समाज भी दिग्भ्रमित होने पर साहित्य से मार्गदर्शन प्राप्त करता है। किसी भी राष्ट्र के समुन्नत होने में उस राष्ट्र का साहित्य भी एक महत्त्वपूर्ण कारक होता है। इस विवेचन को यदि भारतीय परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया जाए तो हमारा प्राचीन साहित्य आज तक प्रेरणा का आधार बना हुआ है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में कहा है- ''**कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे**''[3] अर्थात् काव्य पत्नी के समान उपदेश देने वाला होता है। बाबू गुलाबराय साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की विवेचना करते हुए कहते हैं कि ''कवि और लेखक किसी अंश में समाज के प्रतिनिधि होते हैं और किसी अंश में वह समाज को अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्त्व के आधर पर नए भाव और विचार प्रदान करते हैं। समाज कवियों और लेखकों को बनाता है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया का भाव चलता रहता है यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र बनता है।''

किसी भी समाज को समझने तथा उसकी उपलब्धियों एवं दशाओं का मूल्याङ्कन करने का सर्वोत्तम आधार स्त्रियों की दशा का अध्ययन करना है। स्त्रियों की दशा किसी भी संस्कृति का मानदण्ड मानी जाती है। प्राचीन भारतीय समाज में नारी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इसी बात का समर्थन किया है उनके अनुसार संसार में मानवमात्र का चरम लक्ष्य सुख और सुख का मूलाधार नारी है।[4] मनु ने भी मनुस्मृति में नारियों के सम्मान का उल्लेख करते हुए कहा है- **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।'**[5]

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में नारियों की स्थिति का विवेचन अत्यन्त विशद रूप में प्राप्त है। संस्कृत नाटकों में नारी विषयक दृष्टिकोण उदार एवं विशाल था। सभ्यता और संस्कृति के विकास में उसने सदैव सक्रिय योगदान दिया है, सम्प्रति दे रही है और भविष्य में भी देती रहेगी। जहाँ नारी एक ओर वात्सल्य की प्रतिमूर्ति है वहीं दूसरी ओर उसमें विश्व पर शासन करने की क्षमता भी विद्यमान है। वैदिक युग में नारी का गृहस्थ-जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। दुहिता के रूप में, पत्नी या माता के रूप में वह सर्वथा सम्मान भाजन थी। जायेदस्तम् (जाया ही घर है) की भावना ऋग्वेदीय युग में प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी। स्त्री सहधर्मिणी थी- उसी के साथ में धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान वस्तुतः सम्पन्न होता था। इसलिए अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ के अधिकार से वञ्चित था- **'अयज्ञो वा ह्येष यो अपत्नीकः।'**[6] स्त्री का प्रेम अपने पति के लिए आदर्श था। वह समरसता की प्रतिमूर्ति मानी जाती थी। गृहस्थी की वह स्वामिनी नहीं थी, परन्तु अपने पति के ऊपर भी उसका पूर्ण प्रभुत्व था- **'अपत्यं धर्मकार्याणिदाराधीनः।'**[7] नारियों के लिए पुरुषों के समान शिक्षा व्यवस्था थी। समाज के उच्च स्तर की कन्याओं में उपनयन संस्कार का प्रचलन था। इस तथ्य की पुष्टि- **'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते'**।[8] आदि प्रख्यात स्मृति वचनों के द्वारा प्राप्त होती है। इसी प्रकार स्त्रियों की दशा का वर्णन हमें तत्कालीन संस्कृत नाटकों में प्राप्त होता है।

नाटक एक ऐसा मनोरञ्जन का साधन है, जिसकी रचना सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय के उद्देश्य से हुई है। साहित्य के विविध विधाओं में नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है इसीलिए संस्कृत साहित्य में एक लोकोक्ति ही चल पड़ी 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। क्योंकि नाटक बड़े ही सहज एवं सरल ढङ्ग से समाज के

समस्त व्यक्ति को अपना संदेश सुनाने में समर्थ होता है। महाकविकालिदास ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है कि 'जगत के समस्त प्राणियों की रुचि भिन्न-भिन्न अवश्य होती है किन्तु नाटक उनका नाना प्रकार से एक अद्वितीय आनन्द प्रदान करता है।' नाटक के विविध विधाओं में प्रकरण एक अत्यन्त लोकप्रिय रुपक है। प्रकरण में सभी पात्र (समाज के उच्च वर्ग या दिव्य वर्ग) देवता, राजा, अप्सरा, गन्धर्व और यक्ष आदि न होकर समाज के सामान्य एवं निम्न वर्ग (वेश्या, गणिका, जुआरी, चाण्डाल, चोर, भिक्षुक, मूर्ख, पण्डित, लुच्चा-लुबार, विट, चेट, सभिक, धनी, निर्धन) पात्रों के दर्शन होते हैं।

मृच्छकटिकम् महाकवि शूद्रक का अद्वितीय प्रकरण है जिसके सभी पात्र सार्वभौमिक हैं। शूद्रक के सभी पात्र विश्व के सम्पूर्ण स्थानों पर प्रत्येक समय में दिखाई देते हैं। उसमें शकार जैसे लम्पट, शर्विलक जैसा चोर ब्राह्मण या वसन्तसेना जैसी गणिका इत्यादि पात्र दिखायी देते हैं। मृच्छकटिक के अध्ययनोपरान्त तत्कालीन नारियों की स्थिति विभिन्न रूपों में द्रष्टव्य है।

परिणीता के रूप में नारी-

रूपकों में परिणीता नारियों का विवेचन या वर्णन मुख्य रूप से कहीं नहीं किया गया है क्योंकि यदि नायक और परिणीता का वर्णन किया जाएगा तो रसानुभूति बाधित हो जाएगा। अधिकांश रूपकों में प्रेमिका के रूप में ही नायिका को वर्णित किया गया है जिससे नायक के साथ उनका विवाह हो सके। उत्तररामचरितम् में 'सीता', मृच्छकटिकम् में 'धूता' तथा वेणीसंहार में 'द्रौपदी' परिणीता के रूप में प्रदर्शित हैं। कहने का अभिप्राय है कि जो परिणीता होती है उस नायिका में शील, सरलता, धैर्य आदि गुणों का होना आवश्यक है। शील का अभिप्राय उत्तम आचरण से है शील के कारण परिणीता पतिव्रता से युक्त, कुटिलता से शून्य, लज्जावती और पति की सेवा में संलग्न रहती है। शास्त्रों में वर्णित लक्षणों के आधार पर जब हम विवेचन करते हैं तो मृच्छकटिकम् प्रकरण की चारुदत्त की परिणीता 'धूता' में समस्त गुण विद्यमान पाते हैं। जहाँ धूता का चरित्र आदर्श पतिव्रता नारी के रूप में प्रतिपादित किया गया है। जो त्याग तथा तप की अग्नि में तप कर स्वर्ण के समान देदीप्यमान हो रही है। 'धूता' एक ऐसी आदर्श पूर्ण परिणीता नारी है जिसके लिए पति ही उसका देवता है। वह पति की मङ्गलकामना के लिए सदैव तत्पर रहती है। निर्धनता में भी त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करती है। वह त्याग की प्रतिमूर्ति है। चारुदत्त की आसक्ति वसन्तसेना में है, यह जानने के उपरान्त भी 'धूता' के मन में किसी प्रकार का ईर्ष्या भाव नहीं है। वह हृदय से यही कामना करती है कि उसका पति सदैव निष्कलङ्क रहे, इसी कारण से 'चारुदत्त' के घर से चोरी हुए 'वसन्तसेना' के आभूषणों के बदले वह अपनी बहुमूल्य रत्नावली 'वसन्तसेना' के पास भिजवा देती है। जब 'वसन्तसेना' रत्नावली वापस करने के लिए चेटी को 'धूता' के पास भेजती है तथा 'धूता' के स्वीकार न करने पर चेटी ने 'वसन्तसेना' से कहा कि आर्य 'धूता' ने कहा है कि-

आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रसादीकृता न युक्तं ममैतां ग्रहीतुम्। आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेषः।[10]

'धूता' के त्याग तथा भक्ति का परिचय प्राप्त होता है। 'धूता' यह जानते हुए भी कि मेरे पति 'चारुदत्त' के मृत्युदण्ड के षड्यन्त्र का कारण वसन्तसेना है, फिर भी वह वसन्तसेना के साथ बहन जैसा व्यवहार करती है और कहती है- **दिष्ट्या कुशलिनी भगिनी।**[11]

'धूता' को जब यह पता चलता है कि मेरे पति 'चारुदत्त' को मृत्युदण्ड का आदेश दिया गया है तो वह अपने प्राणों को त्यागने के लिए उद्यत हो जाती है। 'धूता' के त्याग को देखकर 'चारुदत्त' आत्म-विभोर हो उठता है और कहता है-

न महीतलस्थितिसहानि भवच्चरितानि चारुचरिते यदपि।
उचितं तथापि परलोकसुखं न पतिव्रते तव विहाय पतिम्।।[12]
हा प्रेयसि, प्रेयसि विद्यमाने कोऽयं कठोरो व्यवसाय आसीत्।
अम्भोजिनीलोचनमुद्रणं किं भानावनस्तङ्गमिते करोति।।[13]

इस प्रकार मृच्छकटिकम् में आर्य परिणीता 'धूता' का जो उज्ज्वल चरित्र प्रस्तुत किया गया है वह नारी जगत के लिए अनुकरणीय है।

नगरवधू के रूप में नारी-

संस्कृत रूपकों में नगरवधू का उल्लेख अथवा उनका चित्रण अप्राप्य है। साथ ही साथ नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नगरवधू के सम्बन्ध में कोई विवेचन या उससे सम्बन्धित लक्षण नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि संस्कृत नाटकों में नगरवधू का विवेचन आवश्यक नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्रकारों की दृष्टि में नगरवधू के प्रति अत्यन्त सम्मान का भाव रहा है, क्योंकि इनके लिए वधू शब्द का प्रयोग किया गया है जो कि प्रतिष्ठा और सम्मान का सूचक है। अमरकोषकार ने स्त्री वाचक शब्द के रूप में वधू शब्द का प्रयोग किया है- **'समाः स्नुषाजनीवध्वः'**[14]

'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च'[15]

इस प्रकार का प्रयोग वधू शब्द के महत्त्व को प्रकट करता है यही कारण है कि गणिका के साथ वधू शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। जिस प्रकार समाज में कुलवधू की सम्मानजनक प्रतिष्ठा और गरिमा है, उसी प्रकार नगरवधू की प्रतिष्ठा नगर में है। उसे गणिका नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि नाट्यशास्त्रकारों ने गणिका की जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है- **'साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौत्ययुक्।'**[16]

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत्।।[17]

अमरकोष में उसे रूपाजीवा कहा गया है- **'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा'**[18]

अर्थात् जो स्त्री अपने रूप के आधार पर जीवन-यापन करें उसे गणिका कहा जाता है।

उक्त तथ्यों के विवेचनोपरान्त 'मृच्छकटिकम्' में 'वसन्तसेना' का चरित्र एक रूपाजीवा के रूप में नहीं प्राप्त होता है। यद्यपि प्रकरण के कुछ नीच पात्रों जैसे शकार आदि ने 'वसन्तसेना' को गणिका कहा है। शकार के द्वारा 'वसन्तसेना' को गणिका कहा जाना शकार की लोलुपता तथा कामान्धता को प्रकट करता है। जबकि शकार की लम्पटता का विरोध करती हुई 'वसन्तसेना' स्वयं कहती है-

"शान्तं शान्तम् अपेहि अनार्यं मन्त्रयसि।"[19]

अर्थात् शान्त ! शान्त ! दूर हो जाओ। सर्वथा अशिष्ट बातें कर रहे हो और शकार से कहती है-

"गुणः खल्वनुरागस्य कारणम् न पुनर्बलात्करः।"[20]

अर्थात् प्रेम का वास्तविक कारण गुण है न कि बलात्कार।

'वसन्तसेना' के इस कथन से उसकी शुद्धता का परिचय प्राप्त होता है। इससे यह भी अभिव्यञ्जित होता है कि वह धनलोलुप नहीं अपितु चरित्रलोलुप है। वसन्तसेना एक उदार हृदय वाली नारी है। वह एक तरुणी सुन्दरी है और उज्जयिनी नगरी का आभूषण है जैसा कि विट कहता है-

बालां स्त्रियं च नगरस्य विभूषणं च वेश्यामवेशसदृशप्रणयोपचाराम्।
एनामनागसमहं यदि घातयामि केनोडुपेन परलोकनदीं तरिष्ये।।[21]

चारुदत्त ने उसे शरद् (ऋतु) के मेघ से आच्छन्न चन्द्रकला के तुल्य कहा है- **छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते।**[22] विट के शब्दों में वह उदारता की स्रोत, सौन्दर्य में रति, अलङ्कारों को भी अलङ्कृत करने वाली तथा सौजन्य की सरिता है। जब संवाहक उसकी शरण में आता है तो अपरिचित होने पर भी वह उसे अभयदान देती है। उसे ऋण मुक्त कराने के लिए अपना सुवर्णाभूषण भेजती है और कहला देती है कि इसे संवाहक ने ही भेजा है।

'वसन्तसेना' अपनी उदारता के कारण ही मदनिका को दासता से मुक्त कर देती है तथा मदनिका से कहती है- **"यदि मम छन्दस्तदा विनार्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि।"**[23] चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को रोता हुआ देखकर 'वसन्तसेना' सुवर्ण-शकट बनवाने के लिए अपना आभूषण दे देती है। 'वसन्तसेना' एक बुद्धिमती कला-कुशल तथा विदुषी नारी है। वह राजमार्ग पर विट के कथन के गूढार्थ को समझ लेती है और आभूषण उतार लेती है। यह जानते हुए भी कि चारुदत्त दरिद्र है तो भी वह उससे सच्चे हृदय से प्रेम करती है उसका प्रेम धन के लिए नहीं है अपितु प्रशंसनीय प्रेम है- **'दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोकेऽवचनीया भवति।'**[24] चारुदत्त जैसे निर्धन व्यक्ति के प्रति अनुराग उसके हृदय की पवित्रता को व्यक्त करता है। वह दश सहस्र सुवर्णालङ्कारों के साथ आये हुए शकार के आमन्त्रण को अस्वीकार कर देती है, उसे न लोभ है, न भय। जब मदनिका कहती है कि वेश्या के घर में रहने वाले असत्य बोलने में चतुर हो जाते हैं, वे झूठ कपट में कुशल होते हैं। उसके ऐसा कहने पर 'वसन्तसेना' कहती है कि अनेक पुरुषों का साथ होने के कारण गणिकाएँ भी असत्य बोलने के साथ ही साथ छल कपट में भी चतुर हो जाती हैं।

चेटि, नानापुरुषङ्गेन वेश्याजनोऽलीकदक्षिणो भवति।[25]

यहाँ पर 'वसन्तसेना' के वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक पुरुषों से सम्पर्क न होने के कारण न तो वह गणिका है, न ही असत्वक्ता। इससे यही सिद्ध होता है कि वह अपने चरित्र को बचाने के लिए सदैव तत्पर रहती है। शर्विलक कहता है कि वेश्यालय में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ पवित्र नहीं होती हैं-

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः।।[26]

जिस पर मदनिका शर्विलक को रोकते हुए कहती है कि हे! असङ्गत बोलने वाले, असम्भावित (जिसकी सम्भावना भी न की जा सके) पर क्रोध करते हो।

अयि असम्बद्धभाषक, असम्भावनये कुप्यसि।[27]

'वसन्तसेना' 'धूता' के साथ बहन जैसा व्यवहार करती है तथा 'रोहसेन' के प्रति माता का वात्सल्य। वह यह भी जानती है कि वह 'चारुदत्त' के अन्तःपुर में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं रखती अतः कहती है- **'मन्दभागिनी खल्वहं तवाभ्यन्तरस्य'**[28] तथापि वह उस प्रियतम की प्राप्ति के लिए सब कुछ करती है। 'वसन्तसेना' के शील, स्वभाव और चरित्र से प्रभावित होकर राजा उसे वधू शब्द से अलङ्कृत करते हुए शर्विलक के द्वारा आदेश देते हैं। अतएव शर्विलक कहता है-

आर्ये वसन्तसेने, परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।[29]

इस प्रकार से 'वसन्तसेना' को गणिका नहीं कहा जा सकता। वह नगर की सेवादायक वधू के समान है। उसका व्यवहार तथा प्रेम कुलनारी के सदृश है- अवेशसदृशप्रणयोपचाराम्।[30] उसने अपने अनन्य प्रेम, उदात्त चरित्र, उदार हृदय तथा अपूर्व त्याग आदि गुणों से गणिका होने की कालिमा को प्रक्षालित करके एक साध्वी नारी के पद को अलङ्कृत किया है।

सखी के रूप में नारी-

'मदनिका' वसन्तसेना की सखी तथा दासी है। 'मदनिका' के ऊपर वसन्तसेना बहुत अधिक विश्वास करती है। वह भी वसन्तसेना के प्रति अत्यन्त स्नेह करती है। जब मदनिका को यह पता चलता है कि मेरे निमित्त "चारुदत्त के घर शर्विलक ने चोरी की है" तो वह मूर्छित हो जाती है। 'मदनिका' एक बुद्धमती स्त्री है। वह शर्विलक को एक सद्गृहिणी के समान सम्मति देती है। वसन्तसेना[31] को भी वह समय-समय पर उचित सलाह देती है। इसी कारण वसन्तसेना उसकी प्रशंसा करती है- साधु मदनिके साधु।[32] कहती है कि हे मदनिके तुम दूसरे के हृदय की बात जानने में चतुर हो- **परहृदयग्रहणपण्डिता मदनिका खलु त्वम्।**[33] मदनिका भीरु नहीं है वह शर्विलक जैसे साहसी की पत्नी होने योग्य है और जब शर्विलक अपने मित्र आर्यक को छुडाने जाना चाहता है तो वह उसके मार्ग में बाधा नहीं डालती।

इस प्रकार मृच्छकटिकम् के अध्ययनोपरान्त ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में नारियों की विभिन्न प्रकार की स्थितियाँ पायी जाती थीं। समाज में गणिकाएँ घृणित समझी जाती थीं तथा गणिकाएँ पवित्र वधू पद पाने के लिए प्रयत्न करती रहती थीं। तत्कालीन समाज में सती प्रथा का भी प्रचलन देखने को मिलता है। पति के प्रति स्त्रियों की त्याग और भक्ति समाज में अत्यन्त उत्कृष्ट थी। जो समाज के लिए अनुकरणीय है। दासता प्रथा का भी प्रचलन तत्कालीन समाज में व्याप्त था। मदनिका इसी की उदाहरण है।

सन्दर्भ –

1. Society is system of usages and procedures, authority and mutual aid, of many groupings and divisions of control of human behavior and of liberties,, Maciver and Page, Sociology
2. Society is a web of social relationships. Maciver and Page, Sociology
3. काव्यप्रकाश- 1/2
4. सर्व प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छतिसर्वदा। सुखस्य च स्त्रियोमूल नानाशीलधराश्च ता।। नाट्यशास्त्र- 20/93
5. मनुस्मृति- 3/56

6. तैत्तिरीय ब्राह्मण- 2/2/6
7. मनुस्मृति- 9/28
8. वेदार्थकल्पलता- पृष्ठ सं० 116-118
9. त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते। नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।। मालविकाग्निमित्रम् 1/4
10. मृच्छकटिकम् 6/ पृष्ठ सं० 236
11. वही 10/ पृष्ठ सं० 436
12. वही 10/56
13. वही 10/58
14. अमरकोष 2/6/9
15. अमरकोष 2/6/9
16. दशरूपक 2/21
17. वही 2/22
18. अमरकोष 2/6/19
19. मृच्छकटिकम् 1/ पृष्ठ सं० 32
20. वही 1/ पृष्ठ सं० 34
21. वही 8/ 23
22. वही 1.54
23. वही 4/ पृष्ठ सं० 148
24. मृच्छकटिकम् 2/ पृष्ठ सं० 70
25. वही 4/ पृष्ठ सं० 142
26. वही 4/14
27. वही 4/ पृष्ठ सं० 156
28. वही 1/ पृष्ठ सं० 56
29. मृच्छकटिकम् 10/ पृष्ठ सं० 436
30. वही 8/ 23
31. तथापि नीतिविरुद्धमेतत्। अन्य उपायश्चिन्त्यताम्। वही 4/ पृष्ठ सं० 160
32. वही 4/ पृष्ठ सं० 160
33. वही 2/ पृष्ठ सं० 68

वैदिक छन्दःशास्त्र

· डॉ० सत्यकेतु*

शोधसार –

प्रस्तुत शोधपत्र वैदिक छन्द एवं छन्दःशास्त्र के विषय को प्रतिपादित किया गया है। यहाँ छन्दःशास्त्र के प्रवचनकर्त्ता, छन्दों के प्रकार आदि का वर्णन करते हुए वैदिक छन्दों के प्रमुख भेदों का विवेचन किया गया है। छन्दःशास्त्र सम्बन्धी सभी ग्रन्थों जिनमें वैदिक छन्दों का प्रतिपादन किया गया है प्रस्तुत शोधपत्र में उन सभी ग्रन्थों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

बीजशब्द – छन्द, पिङ्गल, वैदिक, छन्दःशास्त्र, पिङ्गलछन्दःसूत्र, छन्दोविचिति, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविजिनी, छन्दोविजिति, छन्दोव्याख्यान, प्राकृतपैङ्गलम्, छन्दोहृदयप्रकाश तथा छन्दोऽर्णवपिङ्गल।

महाभारत में भगवान् शिव को षडङ्ग का प्रवर्तक कहा गया है।[1] वेदाङ्गों के ज्ञान से वेद को समझा जा सकता है। छन्द की उपमा वेद भगवान् के शारीरिक उपमानों में चरणों से की गई है। छन्दःशास्त्र के प्रथम प्रवचन कर्ता के रूप में शिव का स्मरण किया जाता है। पिङ्गल छन्दःशास्त्र की टीका में यादवप्रकाश ने इन्द्र को भी छन्दःशास्त्र का प्रवचन कर्त्ता कहा है। इन्द्र ने असुर गुरु शुक्राचार्य को छन्दःशास्त्र पढाया था[2]। श्रुति परम्परा में वेद के संरक्षण हेतु छन्दःशास्त्र का विकास हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में छन्द शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में छन्दःशास्त्रीय चर्चा प्राप्त होती है। सातों वैदिक छन्दों का यहाँ साक्षात् उल्लेख प्राप्त होता है। इन प्रमुख छन्दों के अवान्तर भेदों के भी नाम यहाँ उल्लिखित हुए हैं[3]। पातञ्जलनिदान सूत्र, शौनकीय ऋक् प्रातिशाख्य और कात्यायनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में भी सभी प्रमुख सातों छन्दों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

छन्दःशास्त्र के अनेक नाम संस्कृत वाङ्मय में प्रचलित हैं। छन्दोविचिति, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविजिनी, छन्दोविजिति, एवं छन्दो व्याख्यान[4]। पाणिनीय अष्टाध्यायी में छन्दस् शब्द वेद का बोधक है[5]। अमरकोश में छन्द शब्द का अर्थ मन की बात या अभिप्राय बताया गया है।[6] पुनः आगे इसका अर्थ वश तथा गायत्री आदि छन्दों के अर्थ में और पद्य के अर्थ में भी स्मृत हुआ है[7]।

छन्द शब्द के व्युत्पत्ति के रहस्य को जानने के लिए जानने हेतु हमें छान्दोग्य उपनिषद् एवं निरुक्त[8] का आश्रय लेने की आवश्यकता है। उपनिषद् एक आख्यान के माध्यम से कहती है कि देवताओं ने मृत्यु से

*सहायक आचार्य, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

बचने हेतु ऋक्, यजु और साम वेदों में प्रवेश किया। छन्दों (वेदों)ने मृत्यु से बचाने हेतु इनका आच्छादन किया इसी से इनकी छन्द संज्ञा है।[9] छदि संवरणे एवं चदि आह्लादने इन दो धातुओं के साथ असुन् प्रत्यय के योग से छन्द शब्द व्युत्पन्न है। पहले का अर्थ आच्छादन एवं दूसरे का अर्थ आह्लादन है। आच्छादन से तात्पर्य है कि छन्द के द्वारा रस, भाव तथा वर्ण्य विषय का आच्छादन किया जाता है। अतः कहा जा सकता है कि छन्द वस्तुतः वेदों के आवरण तथा मानव मन के आह्लादन के साधन हैं।

मुण्डकोपनिषद में छन्द को ऋग्वेद आदि के साथ ही अपरा विद्या बताया गया है-

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।
शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति॥

पिङ्गल प्रोक्त छन्दःशास्त्र के पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थ छन्दों का विवेचन करते दृष्टिगत होते हैं[10]। कात्यायन की अनुक्रमणी में वैदिक छन्दों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। यहाँ १४ वैदिक छन्दों पर विचार किया गया है- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति। गायत्री में २४ अक्षर लक्षित किए गए हैं इसके बाद प्रत्येक में चार-चार अक्षर बढाने से तत्तद् छन्द का लक्षण लक्षित होता है। शुक्ल-यजुः-सर्वानुक्रम-सूत्र में इन १४ के अतिरिक्त सात और छन्दों का विवेचन उपलब्ध होता है। कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति और उत्कृति। इन सभी छन्दों का विस्तृत सभेद निरूपण शौशिरीय प्रातिशाख्य में भी हुआ है। अग्निपुराण में भी छन्दःशास्त्र का विवेचन प्राप्त होता है। आग्नेय छन्दसार नाम से यह विवरण पुराणकार ने प्रस्तुत किया है। यह विवेचन पिङ्गल प्रोक्त छन्दोविधान का अनुसर्त्ता है[11]।

नारदीय महापुराण में भी छन्दों का विवेचन उपलब्ध होता है। यहां वैदिक और लौकिक भेद से छन्दों के लक्षण किए गए हैं। निश्चय ही यह विवेचन लौकिक साहित्य के लक्षण ग्रन्थों से भी परवर्ती प्रतीत होता है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में १४ वें एवं १५ वें अध्याय में छन्दों पर विचार किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि भरतमुनि का मुख्य प्रतिपाद्य नाटक है। अतः उन्होंने नाटक की दृष्टि से उपयोगी छन्दों का विवेचन प्रस्तुत किया है। ऐकान्तिक रूप से छन्दो मात्र विषय पर दृष्टि रखने वाला उपलब्ध ग्रन्थ छन्दःशास्त्र अथवा छन्दःसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। षडङ्ग वेदाङ्ग में छन्द के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में इसी का ग्रहण किया जाता है। यद्यपि इस ग्रन्थ में वैदिक एवं लौकिक उभयविध छन्दों का प्रतिपादन हुआ है। वैदिक छन्दों का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन किसी ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होता है। मैक्डॉनल के अनुसार वैदिक एवं उत्तरवर्त्ती छन्दों का प्रतिपादक यह ग्रन्थ है पुनरपि इस छन्दःशास्त्र को प्रतिपाद्य के आधार पर बाद का निर्माण माना है। वेदाङ्ग होते हुए भी यह लौकिक छन्दों का भी सविस्तार निरूपण करता है[12]।

ए. बी. कीथ के अनुसार आचार्य पिङ्गल का समय ईसा से २०० वर्ष पूर्व है[13]। पिङ्गलच्छन्दःसूत्र के प्रारम्भ में उल्लिखित कारिका के आधार पर परम्परा से पिङ्गल को शेषनाग का से अभिन्न माना जाता है-

श्रीमत्पिङ्गलनागोक्तच्छन्दःशास्त्रमहोदधी। वृत्तानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम्॥ [14]

प्राकृतपैङ्गलम्, छन्दोहृदयप्रकाश (मुरलीधरकविभूषणकृत्) तथा छन्दोऽर्णवपिङ्गल

(भिखारीदासकृत्) में पिङ्गल की शेषनाग से अभिन्नता को लेकर एक कथा प्रतिपादित है-

एक बार भगवान् शेषनाग क्षीरसागर से बाहर आकर वसन्त ऋतु का आनन्द ले रहे थे। उसी समय विष्णु के वाहन और नागों के शत्रु गरुड वहां उपस्थित हुए। उन्होंने शेषनाग को पकड लिया तब शेषनाग ने अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए कहा कि संसार में छन्दःशास्त्र के ज्ञाता केवल वही हैं। यदि आप गरुड मुझे खा लेंगे तो छन्दःशास्त्र का संसार से लोप हो जाएगा। तब उन्होंने गरुड से छन्दःशास्त्र के प्रवचन करने की अनुमति प्राप्त की। गरुड भी इस शर्त पर छन्दःशास्त्र सुनने को प्रस्तुत हुए कि छन्दःशास्त्र सुनाते ही आप भागेंगे नहीं। तब शेषनाग ने कहा कि वे विना पूर्वसूचना दिए नहीं जाएंगे। तब गरुड ने उन्हें छोड दिया। तत्पश्चात् शेषनाग ने छन्दःशास्त्र का इतना सुन्दर वर्णन किया कि गरुड मन्त्रमुग्ध हो गए। यह अवसर देख शेषनाग ने चार बार भुजङ्गप्रयात का उच्चारण करते हुए क्षीरसागर में चले गए। तब गरुड ने कहा कि आप अपना वचन तोड कर जा रहे हैं। उस समय शेषनाग ने कहा कि भुजङ्गप्रयात पद से छन्द-विशेष के साथ अपने जाने की भी सूचना दे दी थी[15]।

कोलब्रुक् ने पिङ्गल एवं पतञ्जलि को एक माना है। किन्तु ऐसा प्रमाणित करने हेतु पर्याप्त प्रमाणों का अभाव है। बेवर का अनुमान है कि शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में किसी पैङ्ग ऋषि का उल्लेख है। जिसके वंश में यास्क पैङ्गी का जन्म हुआ। सम्भवतः पिंगल का जन्म इसी के वंश में हुआ हो[16]। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में पिङ्गल को पाणिनि का अनुज बताया है। तथा च सूत्र्यते भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन...[17]। शिक्षासङ्ग्रह (काशी संस्करण) में भी "ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते" (बडे भाई ने व्याकरण का निर्माण किया और उनके अनुज आचार्य पिङ्गल पाणिनि के मत को समझ कर शिक्षा शास्त्र का प्रवचन करने की प्रतिज्ञा करता है) पिङ्गल को पाणिनि का अनुज कहा गया है। पञ्चतन्त्र में उल्लिखित एक श्लोक से ज्ञात होता है कि पिङ्गल की मृत्यु मकर के द्वारा निगलने से हुई थी-

छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्...।[18]

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इनका समय महाभारत युद्ध के २०० वर्ष बाद माना है[19]। पाणिनीय गणपाठ में छन्दःशास्त्र के तीन पर्याय छन्दोविचिति, छन्दोमान एवं छन्दोभाषा का पाठ किया गया है[20]। महाभाष्य में १/२/३२[21] पर प्रयुक्त छन्दःशास्त्र शब्द को नागेश ने प्रातिशाख्य के अर्थ में माना है[22]। पिङ्गलाचार्य ने अपने ग्रन्थ में क्रौस्टुकि (२/२९), यास्क (३/३०), ताण्डी (३/३६), सैतव (५/१८, ७/१०), काश्यप (७/९), शाकल्य (७/११), रात (७/१३) और माण्डव्य (७/३४) आदि छन्दःसूत्रकारों के मत प्रस्तुत किए हैं। किन्तु आज इनमें से किसी का भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध छन्दोऽनुशासन ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

१. निदानसूत्र- पतञ्जलिकृत्- इसमें इसमें १० प्रपाठक हैं। प्रत्येक १३-१३ खण्डों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक के सात खण्डों में २६ वैदिक छन्दों के १४३ भेदों सहित लक्षण प्राप्त होते हैं।

२. ऋक्प्रातिशाख्य- शौनककृत्- इसके १६, १७ और १८ वें पटल में २८ छान्दों के १८८ भेदों का

विस्तार से सोदाहरण विवेचन उव्वट भाष्य के माध्यम से मिलता है। इसमें ६४ छन्दलक्ष्मण आचार्य शौनक द्वारा लक्षित हैं। शेष १२४ छन्द निदानसूत्र के ग्रन्थ में पहले से लक्षित हुए हैं।

३. ऋक्सर्वानुक्रमणी- कात्यायनकृत्- यहाँ ६८ छन्दों का भेदोपभेद सहित लक्षण उपलब्ध होते हैं। इसमें से ९ छन्द लक्षण कात्यायन के द्वारा लक्षित हैं। शेष लक्षण पूर्व लक्षणग्रन्थों में लक्षित किए जा चुके हैं।

४. छन्दःसूत्रम्- पिङ्गलकृत्- इसमें ३२९ सूत्र ८ अध्यायों में उपनिबद्ध ग्रन्थ है। इसमें वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के छन्दोलक्षण किए गए हैं। प्रथम अध्याय से चतुर्थ अध्याय के सातवें सूत्र तक ११९ वैदिक छन्दों के लक्षण हैं। इनमें महर्षि पिङ्गल के द्वारा सबसे पहले लक्षित ११ छन्द हैं। शेष १०८ छन्द पूर्व ग्रन्थों में बताए जा चुके हैं।

५. उपनिदानसूत्र- अज्ञातकर्तृक- ग्रन्थान्त में उद्धृत पिङ्गल नाम से इसे छन्दःशास्त्र का परवर्ती ग्रन्थ माना गया है[23]। इसमें ६६ वैदिक छन्दों के (भेदों सहित) लक्षण का उल्लेख है। दो छन्द लक्षण ही उपनिदानकार ने लक्षित किये हैं। अन्य ६४ छन्द लक्षण पूर्वग्रन्थों में लक्षित होते आये हैं।

६. अग्निपुराण- इसके ३२८ अध्याय से ३३५ वें अध्याय पर्यन्त छन्दों का विवेचन है। जिसमें से प्रथम ३ अध्यायों में ही वैदिक छन्दों का विवेचन प्राप्त होता है। इनमें से चार लक्षण ही अग्निपुराणकार के स्वोपज्ञ हैं। अन्य लक्षण पूर्ववत् हैं।

७. जयदेवछन्द- जयदेवकृत्- इसके ८ अध्यायों में से द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में वैदिक छन्दों का विचार किया गया है। १३ छन्दोलक्षण जयदेव द्वारा लक्षित हैं। अन्य लक्षण पूर्ववत् हैं।

८. छन्दोऽनुक्रमणी- वेंकटमाधवकृत्- ऋग्भाष्य में जहाँ छन्दों का उल्लेख किया गया है उसी भाग का नाम छन्दोऽनुक्रमणी है। इसमें ५८ छन्दों का भेदसहित लक्षण प्रतिपादित किया गया है। कोई भी लक्षण स्वोपज्ञ नहीं है। सभी छन्दोलक्षण पूर्ववत् स्मृत किए गये हैं।

९. वृत्तमुक्तावलि- श्रीकृष्णभट्टकृत्- यह रचना तीन गुम्फों में विभक्त है। प्रथम गुम्फ में २०५ वैदिक छन्दों का (भेदों सहित) लक्षण लक्षित किया गया है। जिनमें चार लक्षण आचार्य के स्वोपज्ञ हैं। शेष पूर्ववत् हैं।

वैदिक छन्द – पिङ्गल ने छन्दःशास्त्र के द्वितीय अध्याय में गायत्री आदि छन्दों का सभेद वर्णन किया है। तृतीय अध्याय में छन्दःपाद विचार किया गया है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती आदि ७ छन्दों के सात देवताओं क्रमशः अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्र-वरुण, इन्द्र और विश्वदेव तथा सप्तस्वरों- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषाद और ७ वर्णों- श्वेत, सारंग, पिशङ्ग (पीला), कृष्ण, नील, लोहित एवं गौर, और सातगोत्रों- अग्निवेश्य, कश्यप, गौतम, आङ्गिरस, भार्गव, कौशिक एवं वशिष्ठ आदि का उल्लेख भी छन्दःशास्त्र के तीसरे अध्याय के अन्तिम् सूत्रों में किया गया है[24]।

छन्द प्रयोग की दृष्टि से आचार्य शौनक ने ऋग्वेद में गायत्री से लेकर अतिधृति तक 14 छन्दों (गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पङ्क्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, जगती ४८, अतिजगती ५२,

शक्वरी ५६, अतिशक्वरी ६०, अष्टि ६४, अत्यष्टि ६८, धृति ७२, अतिधृति ७६ वर्ण) का प्रयोग माना है। यद्यपि अतिधृति छन्द की वर्णपूर्ति के लिए ऋग्वेद के १/१२७/०६ मंत्र में शौनक आदि आचार्य उपलब्ध ६८ वर्णों का प्रतिचरण का व्यूह करके ७६ वर्ण मानते हैं। जो यथाकथञ्चित् द्राविड प्राणायाम की भाँति आयाससाध्य प्रयोग है।

अस्तु इस अतिधृति छन्द को मिलाकर यजुर्वेद में आठ अन्य (अतिधृति ७६, कृति ८०, प्रकृति ८४, आकृति८८, विकृति ९२, संकृति ९६, अभिकृति १००, उत्कृति १०४ वर्ण वाले) छन्द प्रयुक्त हुए हैं। अथर्ववेद में उक्ता (४ वर्ण), अत्युक्ता (८ वर्ण), मध्या (१२), प्रतिष्ठा (१६ वर्ण) और सुप्रतिष्ठा (२० वर्ण) आदि ०५ छन्दों का अधिक उपयोग दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में प्रयुक्त उक्ता छन्द चार वर्णों की दृष्टि से वेद में प्रयुक्त सबसे छोटा छन्द है एवं १०४ वर्णों वाला उत्कृति छन्द सबसे बडा है। इस प्रकार भेदोपभेदों सहित वेद में प्रयुक्त २२४ छन्दों को लक्षणग्रन्थों में परिभाषित किया गया है।

सन्दर्भ –

1. वेदात् षडङ्गान्युद्धत्य, 284/192, (महाभारत शांति पर्व कुंभघोण संस्करण)
2. तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुः...छन्दःशास्त्र की टीका के अन्त में- यादवप्रकाश।
3. शाङ्खायन श्रौतसूत्र 6-7
4. पाणिनीय गणपाठ, 4/3/73, जैनेन्द्र गणपाठ, ३/३/४७, जैन शाकटायन गणपाठ, ३/१/१३६, चान्द्र गणपाठ, ३/१/४५, गणरत्न महोदधि, ४/३४४, सरस्वती कण्ठाभरणम्, ४/३/१
5. बहुलं छन्दसि, पा० अ० २/४/७६
6. अभिप्रायश्छन्द आशयः... अ०,को०, तृ०, का०, संकीर्ण वर्ग, श्लोक २०
7. अभिप्रायवशौ छन्द... अ०, को०, तृ०, का०, नानार्थ वर्ग, श्लो० ८८
8. छन्दांसि छादनात्- निरुक्त ७/३/१२ यहीं निरुक्त के टीकाकार आचार्य भगवद्दुर्ग का कथन है कि ते (मन्त्राः) पुनश्छन्दोमयाः, नाऽछन्दसि वागुच्चरतीति। निरुक्त ७/३/१२
9. यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवाः मृत्योर्बिभ्यतः, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् इति।छान्दोग्य उप०, खण्ड ४, अ०१, कण्डिका २
10. शां० श्रौ० सू० ७/२७ पृ० ८४ (सं० ए० हिलब्राण्ट, पीएच् डी, खण्ड-१)
11. छन्दोवद्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्। अग्निपुराणम्
12. A.A. Macdonell- A History of Sanskrit Literature, P. 267
13. संस्कृत साहित्य का इतिहास- ए० बी० कीथ, पृ० ४१५
14. पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम् (हलायुधवृत्तिसहितम्) प्रथमोध्याय, श्लोक ०१
15. प्राकृतपैङ्गलम्- मङ्गलाचरण, छन्दोऽर्णवपिङ्गल- मङ्गलाचरण तथा मुरलीधर कवि भूषणकृत् – छन्दोहृदयप्रकाश।
16. भारतीयवाङ्मय का इतिहास- बेवर, पृ० ४६
17. पिङ्गलसूत्र- ३-३३
18. पञ्चतन्त्र, मित्र सम्प्राप्ति-३६, जीवानन्द संस्करण
19. सं० व्या० शा० का इतिहास, पृ० २२८, प्रथमभाग
20. गणपाठ ४/३/७३
21. व्याकरणनामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुतसहते। महाभाष्यम् १/२/३२
22. नागेश- छन्दःशास्त्रेषु प्रातिशाख्यादिषु। महाभाष्यम् उद्योत टीका, १/२/३२
23. ब्राह्मणात्ताण्डिनश्चैव पिङ्गलाच्च महात्मनः। उपनिदानसूत्रम्- ८/१
24. पिङ्गलसूत्रम्- ३/६३, ६४, ६५, तथा ६६

काल-गणना-गणक आर्यावर्त्त

· डॉ. श्यामलेश कुमार तिवारी*

शोधसार –

मन्वन्तर-काल-गणना के अनुसार पुराणों में ३ युगों अर्थात् सतयुग त्रेता द्वापर को 'त्रियुगी लिखा गया है। यही तीनों युग आर्य सभ्यता का विराट् इतिहास अपने आवर्ती में सहेजे हुए है। परन्तु खेद की बात है कि पश्चिमी विवेचकों ने अपनी सङ्कीर्णता का परिचय देते हुए पुराण वर्णित पीढ़ियों को केवल २८ वर्ष प्रति पीढ़ी के हिसाब से काल गणना की है जो नितान्त काल्पनिक ही कही जायेगी।

बीजशब्द – गणना, अङ्क, गण, त्रिकोणमिति, दशमलव शून्य, सूर्य, चन्द्रमा अङ्कशास्त्र

वस्तुतः गिनती या गणना का आदि देश भारत ही रहा है। अक्षरों के पहले आर्यों ने अङ्क गणना सीख ली थी। 'गण' शब्द का अर्थ है कि वह गिना गया। त्रिशूली शिव ही अङ्कशास्त्र के गणना के आदि आचार्य थे। कहा गया :-

'प्रथमे गणाः अमरकोषः, प्रथमे रूद्रानुचरे इति महेश्वरः' अर्थात् देव-युग में शिवजी के जो पार्षद थे, वे 'गण' कहलाते थे[1]। उनकी विधिवत संख्या रहती थी अर्थात् वे गिने जा सकते थे। परन्तु गणना की यह प्रथा या परम्परा विष्णु और ब्रह्मा पार्षदों के लिए नहीं थी। कालान्तर से यह 'गण' शब्द ऐसी सेना के लिए प्रचलित हो गया, जिसमें २७ रथ, २७ हाथी, २१ अश्व और १३५ पैदल सैनिक हुआ करते थे। ऐसी सेना के स्वामी को 'गणेश[2] कहते थे साथ ही शिव के गणों का जो नियन्त्रण या नेतृत्वकर्ता था, उसे 'गणपति'[3] कहा गया। पहले शिवजी के गण और बाद में सैन्य गण में पृथकता भिन्नता रही, परन्तु कालान्तर में दोनों परस्पर पर्याय माने जाने लगे। यहीं से गणित शास्त्र की शुरूआत होती है। अङ्कगणित और बीजगणित के बहुत बाद रेखागणित का यहाँ प्रचलन हुआ उसके ८०० वर्ष बाद ईसामसीह का जन्म हुआ।

रेखागणित के सिद्धान्त कल्पसूत्रों में थे। उसके मूल सिद्धान्त भारतीयों ने ही ईसा पूर्व ८वीं शताब्दी में यूनानियों को ज्ञात कराये, बताये। ईसा की ८वीं शताब्दी में अरब लेखकों ने भारतीयों द्वारा प्रचलित बीजगणित वाले ग्रन्थों का अरबी भाषा में रूपान्तर किया। अनन्तर यूरोपीय देश भी बीजगणित का परिचय प्राप्त कर सके। उसके पहले पश्चिमी देश बीजगणित से अनभिज्ञ रहे थे। इसी प्रकार 'त्रिकोणमिति' और गणित की दशमलव प्रणाली के भी आदि गुरू ज्ञाता विश्व में सर्व प्राचीन भारतीय ही थे। अरब देशवासियों ने भारतीयों से ही

*सहायकाचार्य, प्राव्यसंस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

'दशमलव प्रणाली' का ज्ञान प्राप्त किया, सीखा उसे फिर अरबों ने ही दशमलव प्रणाली यूरोप वालों को सिखाई। उससे पूर्व यूरोप दशमलव प्रणाली की कोई जानकारी नहीं रखता था यह निर्विवाद तथ्य है। 'गणितशास्त्र के प्रारम्भ होने से पूर्व मानव केवल मात्र शून्य से परिचित था', यह मान्यता विदेशी लेखकों की रही है। किन्तु भारतीय ग्रन्थकारों के मत से पहले 'अङ्क' निर्माण हुए तत्तपश्चात् ही 'शून्य' की रचना की गई। निस्सार पदार्थ को भी 'शून्य' कहा जाता है। सिद्ध होता है कि 'संख्यान' (बोलकर गणना करना) तथा 'अङ्कन' (लिखकर गणना करना) इनमें से गणना करना ही पहले प्रचलन में आया। मनुष्य ने पहले गणना करना सीखा, पश्चात् 'अङ्क' नाम के चिह्न प्रचलन में आये। अक्षर बाद में प्रचलित हुए पहले अङ्कों की गणना अस्तित्व में आई। गणित का प्रारम्भिक काल 'विष्णुपुराण'[4] तथा 'मत्स्यपुराण[5] के अनुसार त्रेतायुग ठहरता है। वैदिक ऋषियों ने जिन श्रौत, गृह्य, शुल्व धर्मादि कल्पसूत्रों का उल्लेख किया है- उससे सिद्ध है कि वे वैदिक ऋषि गणना किम् वा गणित विद्या में निष्णात थे। गणितज्ञ थे। शुक्लयजुर्वेद[6] के अध्याय १८ मन्त्र २४ में १-३-५-७ आदि ३३ संख्यायें गणना में हैं, जो सभी विषम संख्यायें हैं। शुक्लयजुर्वेद[7] अध्याय १८ के २५वें मन्त्र में ४-४ की वृद्धि क्रम से सम संख्याएँ समाविष्ट हैं। आज भी उन्हीं संख्याओं के नाम संस्कृत में प्रचलित है। इसी प्रकार 'यजुर्वेद' और 'ऋग्वेद' में ९ तक की गणना वाले मन्त्र सम्प्राप्त हैं। 'अथर्ववेद' के तो एक ही सूत्र में १० तक की संख्याओं की गणना की गई है[8]। 'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युचयते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमोनाप्यचयते । नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युचयते। तमिदं निगतं सहः स एष एक वदेक एव। सर्वेऽस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति'।

ऋषियों द्वारा गणित के नव तक के अङ्क सम्पूर्ण विश्व की गणना करने के लिए सक्षम हैं। साथ ही उन्होंने दशम स्थानीय गणना भी आविष्कृत कर ली थी। इसी दश स्थानीय गणना-पद्धति को सम्प्रति 'दशमलव पद्धति' (डेसीमल सिस्टम) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋषियों ने ही संख्या-बोधक शब्द भी प्रचलित किये थे जो गणना में प्रयुक्त होते थे। विदेशी लेखक डा० कोलब्रुक को लिखना पड़ाकि 'भारतीयों ने काल-गणना' को सुनिश्चित करने के लिए ज्योतिष शास्त्र रचा था। इस शास्त्र ने निस्सन्देह बहुत प्राचीन काल में ही उत्कर्ष प्राप्त कर लिया था। उन भारतीयों के सामाजिक एवं धर्म सम्बन्धी पञ्चाङ्ग मुख्यतः चन्द्रमा तथा सूर्य के अनुसार होते थे परन्तु वे केवल उन्हीं पर निर्भर न थे वरन् उन भारतीयों ने जहाँ तक काल-गणना का सम्बन्ध है, चन्द्रमा की गति की सम्यक् जानकारी प्राप्त कर ली थी। यूनानियों की तुलना में उन प्राचीन भारतीयों का चन्द्रमा का युति भगण-निर्धारण कहीं अधिक शुद्ध था। भारतीय काल-गणना तथा भारतीय ज्योतिष का अध्ययनकर्ता यद्यपि डा० कोलब्रुक प्रथम यूरोपियन था परन्तु इसका ग्रन्थ भी जहाँ तक भारतीय काल-गणना सिद्धान्त का विषय है, पूर्ण सत्यता से परे है। उसमें भ्रान्ति और काफी भटकाव आ गया है। वस्तुतः भारतीयों ने अपने पञ्चाङ्ग को निर्मित करने में सूर्य तथा चन्द्रमा सहित वृहस्पति का काल ६० वर्षीय विख्यात चक्र रूप में रखा था। ज्योतिष एवं बीजगणित का प्रथम भारतीय ज्योतिर्विद है, आर्यभट्ट। यह ४७६ ईस्वी में जन्में इनके रचे ग्रन्थ 'आर्यभट्टीयम्[9] में काल क्रियापाद, गणित पाद तथा गीतिका पाद और गोलपाद वर्णित है। इसमें राशि चक्र बारहों भागों के नाम दिये गये हैं। आर्यभट्ट ने 'गोलपाद' में सौर राशि चक्र के १२

भागों के नाम दिये हैं। उसमें पृथिवी की परिधि की भी गणना की गई है अर्थात् ४-४ कोस के ३३०० योजन, जिसे कोई काट नहीं सका। यह ग्रन्थ छठी शताब्दी के शुरू में ही लिखा गया।

उपनिषद्-काल में ज्योतिर्विदों को विज्ञानी मानकर 'नक्षत्रदर्श' या 'गणक' कहा जाता था। कृष्णयजुर्वेद में २८ नक्षत्रों के सम्पूर्ण नामों का उल्लेख है। होमाग्नि नक्षत्रों की गणना के अनुसार प्रज्ज्वलित करते थे। तद्नुसार इन्द्र का एक गुप्त नाम 'अर्जुन' है अतः फाल्गुनी नक्षत्र भी 'इन्द्र' के अर्थात् 'अर्जुन' कहे गये हैं। वर्षभर की ६ ऋतुओं के नाम 'ऋग्वेद' में अनुक्रमानुसार १. मधु, २ माधव, ३ सूक्त, ४. सुचि, ५. नभ और ६. नभस्य बताये गये जो भिन्न-भिन्न देवताओं से सम्बन्धित थे[10]। ऋग्वेद में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा पृथ्वी के सम्बन्धों का ज्ञान ऋषिगण कर चुके थे। 'ऐतरेयब्राह्मण' के अनुवादक डाक्टर हांग ने लिखा है कि, 'बृहत् यज्ञ प्रायः वसन्तऋतु में होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के चतुर्थ खण्ड से ज्ञात हुआ कि ' सत्र जो कि एक वर्ष का होता था, सिर्फ सूर्य के वार्षिक भाग का अनुसरण था। उसके दो भाग होते थे। प्रत्येक भाग में ३०-३० दिन के ६ मास होते थे। इन दोनों के मध्य में विषुवत्' अर्थात् सम दिवस होता था। जो सम को दो भागों में विभाजित करता था। दोनों अर्ध भागों के विधान एक ही थे किन्तु दूसरे अर्ध भाग में वे विपरीत क्रम से किये जाते थे इसके उत्तरायण होने से दिन बड़ा और दक्षिणायन होने से उनका छोटा होना प्रकट किया गया था।

डॉ० कोलब्रुक ने भी लिखा है कि, 'भारतीयों ने नक्षत्र सम्बन्धी काल गणना अपने ही सिद्धान्तों से सुनिश्चित की थी उसके पीछे वैदिक विधानों तथा नक्षत्रों की गणना को आधार मानकर चन्द्रमा की स्थिति में जो घनिष्ठ सम्बन्ध है निःसन्देह उससे प्रमाणित होता है कि हिन्दुओं की यह विद्या उनकी अपनी मौलिक खोज है।'

मैक्समूलर, बायोट और बेवर के कथन

भारतीयों ने ब्राह्मण-काल में ही राशि चक्र को जानने के साथ ही घटनाओं की तिथि स्थिर करने हेतु अयनान्तों की भी जानकारी प्राप्त कर ली थी- वर्ष को महीनों में विभक्त किया और हर महीने का नाम उस नक्षत्र के नाम के हिसाब से रखा जिसमें कि उस मास का पूर्ण चन्द्र होता था। इसके बावजूद प्रो० मैक्समूलर ने भ्रान्ति-वश यह लिख डाला कि, 'जो २७ नक्षत्र भारत में चान्द्र राशि चक्र की तरह चुने गये उनका संज्ञान बेबीलोन से प्राप्त किया समझा गया।' परन्तु फिर ये स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'बेबिलोन का राशि चक्र सौर्य है और बहुत खोज करने पर भी वहाँ के शिलालेखों में चान्द्र राशि चक्र का कोई निशान नहीं मिला अतः बेबिलोन में चान्द्र राशि चक्र की बात कोरी कल्पना है। जिस व्यक्ति ने हिन्दुओं के वैदिक ग्रन्थ पढ़े हैं तथा प्राचीन वैदिक संस्कारों का भी अनुशीलन किया है, वह कदापि यह बात नहीं मान सकता कि आकाशीय विभाग का यह ज्ञान हिन्दुओं ने बेबीलोन से लिया था। विल्सन भी मानते हैं कि १८ सिद्धान्तों में 'पाराशर सिद्धान्त' सबसे प्राचीन है। उसके पश्चात् 'गर्ग सिद्धान्त' है। पौराणिक काल में पाराशर के ग्रन्थ 'संहिता' की बड़ी प्रतिष्ठा थी विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक वराहमिहिर और डा० भाऊदाजी ने भी पाराशर सिद्धान्त के उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं। अलबरूनी वराहमिहिर का समय ५०५ ईस्वी और डा० भाऊदाजी का निधन ५८७ ई. लिखता है। वराहमिहिर ने छठी शताब्दी में अपनी पञ्चसिद्धान्तिका गर्ग के ही ५ प्रसिद्ध सिद्धान्तों के

आधार पर लिखी प्रो० बेवर यही रट लगाता रहा कि हिन्दुओं ने नक्षत्रों की उत्पत्ति सम्बन्धी संज्ञान बेबिलोन से प्राप्त किया। अवश्य उसने फ्रेञ्च लेखक बायोट के सन् १८६० में निर्धारित इस स्थापना का खण्डन किया कि भारतीयों ने नक्षत्र सम्बन्धी गणना का ज्ञान चीन और अरब से प्राप्त किया। वास्तविकता यह है कि बेबिलोन के किसी भी ग्रन्थ में राशि चक्र का पता नहीं चलता। सीताराम प्रधान ने पुराणों के पृथक् पृथक् काल खण्डों की गणना ४ कालों में विभाजित करके की है प्रथम 'व्यास काल', द्वितीय मागध नरेश 'सेनजित- काल', तृतीय 'नन्दवंश-काल' और चतुर्थ 'गुप्त काल'। श्रीमद्भागवत महापुराण उनके मत से 'उत्तर कालीन है और 'वायुमहापुराण' प्राचीन काल का। इस काल-गणना में पुराणोक्त राजवंश सहायक तो हैं, क्योंकि उसी से ऐतिहासिक काल-निर्धारण शक्य है, परन्तु पुराणों में प्रायः सन् संवतों का लोप है। अवश्य प्राचीन सूर्य और चन्द्र वंश के विवरण पुराणों में प्राप्य हैं। उनमें भी पीढ़ियों में अन्तर है। यहाँ तक कि वाल्मीकि के विवरण भी काल गणना की दृष्टि से बुद्धिजीवी मान्य नहीं ठहराते। फिर भी जो भारतीय राजवंश हुए वे वैदिक आर्यों से ही सम्बद्ध हैं। और उनके राज्यों में वैदिक संस्कृति ही आचरित रही है।

डा० सीताराम प्रधान ने अपने ग्रन्थ 'क्रोनोलोजी ऑफ एन्शन्ट इण्डिया' में श्रीराम से युधिष्ठर तक की काल-गणना को 'द्वापर युग' माना है। प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों से श्रीराम से युधिष्ठिर तक १२ से १५ पीढ़ी मानी हैं। अन्य इतिहासकार पार्जीस्टर ने अपने ग्रन्थ 'एन्शन्ट इंडियन हिस्टोरिक ट्रेडिशन' में वैवस्वत मनु से श्रीराम तक की त्रेतायुग' माना है। तीसरा ग्रन्थ है, राय चौधरी का जिस में पुराणों के ही आधार पर ही परीक्षित से गुप्तकाल की वंशावलियों पर प्रकाश डाला गया है। परन्तु खेद है कि इनमें से किसी ने भी पुराणोक्त स्वायंभुव मनु का जो काल 'सतयुग' है उसे समाविष्ट नहीं किया और न विदेशी लेखकों ने ही उसकी ग्रन्थों में कहीं चर्चा की, जबकि वस्तुतः आधुनिक दृष्टि से भी वह काल स्वायंभुव मनु की ४५ पीढ़ियों का लोक-जीवन अपने में समाहित किये हुए है, जिसे 'सतयुग' कहेंगे।

एक बात इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि पुराणों में कई व्यक्तित्व अमर माने गये हैं, जिनका आयुष्य हजारों वर्ष माना गया, जबकि वेदों में मनुष्य १००-१२५ वर्ष की ही आयु तक माना गया। वेदों के प्रमाण 'अपौरूषेय' माने गये परन्तु पुराणों के बिना प्राचीनतम भारतीय इतिहास और उसकी काल-गणना सम्भाव्य नहीं हैं।

मन्वन्तर हमें बताते हैं कि वैवस्वत मनु से भी पूर्व ६ मन्वन्तर हुए हैं- इन्हीं सात मन्वन्तरों ने प्राचीन भारतीय प्राचीन सभ्यता संस्कृति का इतिहास और विकास किया है। उसकी काल-गणना में ३युग आते हैं, प्रथम था, सतयुग का 'मन्वन्तर काल', द्वितीय त्रेतायुगीन 'मनु-रामचन्द्र काल' और तृतीय था 'द्वापर राम-युधिष्ठिर काल। सतयुग में ईरान (आर्यान) तथा मध्य एशिया तक भरतों का ही राज्य था। ग्रन्थकार श्री दलाल लिखते हैं कि 'आर्य ४ सहस्राब्दी ईसा पूर्व केवल भारत में ही नहीं ईरान (आर्यान) में भी विद्यमान थे और बेबीलोनिया भी उनसे पृथक नहीं रहा था तब आर्यान (ईरान) और बेबीलोनिया की भाषा तथा संस्कृति आर्यों से बहुत साम्य रखती थी। मित्र, देवता, वृत्रघ्न, तृत तथा छन्द सरीखे शब्द वहाँ के लोक-जीवन में प्रचलित और प्रतिष्ठित थे। शतपथब्राह्मण[11] के अनुसार 'देवासुर संग्राम' के बाद प्रजापति के पुत्र देवगण

आर्यान (ईरान) के उत्तर-पूर्व में राज्य करते रहे। प्राचीन भरतों और आर्यों का प्रभुत्व ईरान ही नहीं, अरब-अफ्रीका एशिया पर भी रहा था। ले० कर्नल साइक्स (Sykes) ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ पर्शिया' तथा एण्ड्रू क्रिक्टन (Andrew Crichton) ने स्वरचित ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ अरेबिया में पुराणों के आधार पर यह तथ्य स्वीकार किया है। परन्तु वह पौराणिक काल गणना पर निर्भर है।

आधुनिक दृष्टया सम्पूर्ण भूत भविष्य काल १४ मन्वन्तरों में विभाजित किया गया जिनमें ६ बीत चुके हैं, ७ वाँ चल रहा है और शेष ७ आगे आने वाले हैं। एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी से कुछ अधिक समय होता है। हर चतुर्युगी में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग का समावेश होता है। सतयुग की संख्या ४ हजार वर्षों की और ४-४ सौ वर्षों की सन्ध्या तथा सन्ध्यांश है। त्रेतायुग तीन हजार वर्षों का है; सन्ध्या सन्ध्यांश में ६०० वर्ष लगते हैं। द्वापर युग ४ हजार वर्षों का है कलियुग में एक हजार वर्ष और २०० वर्षों की सन्ध्या तथा सन्ध्यांश है। इस प्रकार एक चतुर्युगी में १२ हजार वर्ष होते हैं। परन्तु यह काल-गणना वाले वर्ष मनुष्यों के नहीं, वरन् देवताओं के हैं। देवताओं का एक वर्ष मनुष्यों के ३६० वर्षों का होता है। अतः एक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्षों की होती है। ऐसा 'श्रीमद्भागवत', विष्णुपुराण और 'हरिवंश' में वर्णन है। इस गणना से एक मन्वन्तर में ७२ चतुर्युगी हुई। परन्तु आज के पश्चिमी बुद्धिजीवी विवेचक इससे सर्वथा पृथक काल गणना निर्धारित करते हैं। तदनुसार वे पीढ़ियों को काल-गणना का आधार मानकर स्वायंभुव मनु की ४५ पीढ़ियों तक छः मन्वन्तरों में एक पीढ़ी का काल केवल २८ के हिसाब से १२६० वर्ष की ही कालावधि सतयुग की ठहराते हैं। उनके अनुसार महाभारत- संग्राम काल ईसा पूर्व १२७७ वर्ष, द्वापर काल ईसा पूर्व ३९२ वर्ष, त्रेताकाल ईसापूर्व १२६० वर्ष है। इस प्रकार इन सब का कुल योग ईसा पूर्व ४०२१ में होती है और मनुर्भरत के अन्तिम व ४५ वें प्रजापति दक्ष पर ईसापूर्व २६६१ में समाप्त होता है एवं सतयुग का पूरा काल १२६० वर्ष ही होता है। यह काल-गणना पश्चिमी दृष्टिकोण रखती है। जिससे हर किसी का सहमत होना सम्भव नहीं- मैं इसे नहीं मानता। मनुर्भरत ही १४ मनु वाली सूची रखते हैं जिनमें स्वायंभुव मनु, स्वरचित मनु, उत्तम, ताकस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दत्त सावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्म सावर्णि, रूद्र सावर्णि, देव सावर्णि तथा इन्द्र सावर्णि के नाम समाविष्ट है। अन्त में यहाँ मैं एक बात और कहना चाहता हूँ कि इन्हीं मनुर्भरतों में से एक भरत हुए जो ऋषभदेव के पुत्र थे- इन्हें ही 'जड़ भरत' एवं 'मनुभरत' कहा गया और इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' विख्यात हुआ। इनका राज्य ८ द्वीपों तक रहा। भारत के अतिरिक्त इन्द्रद्वीप, कसेरू,ताम्रवर्ण, गोभस्तिमान, नागवर सौम्य, गन्धर्व, वरूण इन ९ खण्डों में फैला हुआ था।

श्रीमद्भागवत महापुराण और हरिवंश महापुराण में इन्हीं भरत को सप्तद्वीप, नौ खण्डों का अधिपति कहा गया है। श्रीमद्भागवतमहापुराण में इन्हीं भरत और उनसे जुड़े भारतवर्ष नाम के सन्दर्भ में कहा गया था कि 'प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्वह। तस्याग्नीध्रस्ततः नाभिः ऋषभस्तस्यसुतस्ततः।। अवतीर्ण पुत्रशतं तस्यासीद् ब्रह्म पाश्याम्। तेषाम् वै भरतो ज्येष्ठो नारायण परायणः।।

विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भरतमुत्तमम्।' अर्थात् 'स्वायंभुव मनु के पुत्र हुए प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र, आग्नीध्र के पुत्र थे नाभि और नाभि के पुत्र हुए ऋषभदेव। ऋषभदेव के ही पुत्र थे भरत (जड़भरत)।

ये १०० भाई थे; किन्तु भरत ही उनमें ज्येष्ठ थे जिन्हें 'मनुभरत' भी कहा गया और इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। इन्हीं के राज्य में ८ द्वीप थे। मत्स्यपुराण[12] में भी इनका गुणगान है कि-

पूरुवंशं प्रवक्ष्यामि शृणुध्वमृषिसत्तमा ।
यत्र ते भारता जाता भारतान्वयवर्द्धनाः ।

सन्दर्भ -

1. संस्कृत हिन्दी शब्द्कोश वामन शिवराम आप्टे पृष्ट ३३०
2. संस्कृत हिन्दी शब्द्कोश वामन शिवराम आप्टे पृष्ट ३३०
3. ऋग्वेद २.२३.१
4. विष्णुमहापुराण अध्याय ६ अंश १
5. मत्स्यमहापुराण अध्याय १४२
6. एका च मे----------
7. चतस्रश्च मे
8. अथर्ववेद, काण्ड १३, अनुवाक ४
9. आर्यभट्टीयम्
10. ऋग्वेद १/२/२६
11. शतपथब्राह्मण
12. मत्स्यमहापुराण अध्याय २४ श्लोक ७१

भारतीय कालगणना का स्वरूप

· डॉ. बृजेश कुमार सोनकर*

शोधसार –

देश-काल की गणना कई प्रकार है तथा बहुत सूक्ष्म है। आज भी काल का अर्थ एवं उसकी माप रहस्यमय है। भारत में ४ प्रकार के काल ९ प्रकार के कालमान तथा ७ प्रकार के युग हैं। काल लोकरूपी पहियों को आँगकर आगे ढकेलता है काल पहला देव है काल के सिर पर एक पूर्ण कुम्भ रखा है। यह घड़ा ज्योति से आयु के जल से लबालब भरा हुआ है। यह घड़ा अनेक रूप धारण करता है। सूर्य-रूपी घट से ही चंचल बाल्य, मनमोहक यौवन और शुष्क जरा के अनेक रूप देखने में आते हैं। काल सबसे ऊँचे लोक में है। काल ने ही भुवनों को जीवन से भर दिया है। काल ने ही रंग-बिरंगे जीवन को एक जगह इकट्ठा किया है। काल से परे कुछ नहीं है। काल ने द्युलोक को बनाया है। काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया भूत और भविष्य की हलचल काल के आश्रित हैं। सबका होना काल के अधीन है।

बीजशब्द – काल, एतर्हि, क्षिप्र, मुहूर्त, अहोरात्र, द्युलोक, गर्भ आदि

कलयति कलयते कलते वा इतिकालः।[1] अर्थात् जिससे सबकुछ कलित होता है अथवा जो सभी चराचर भूतों को कलित करता है वह काल है। वस्तुतः जिससे सब उत्पन्न हों जिसमें सब समाप्त हों जिसके द्वारा सबकी गणना हो उसे काल कहते है। कलयति सर्वं इति कालः।[2] सूर्य उदित होता है ज्योति फैलती है प्राणियों में चेतनता आती है। प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुगुण कर्मो में संलग्न होते हैं। उन कर्मो को करने में काल व्यतीत होता है। काल में ही कर्म किया जाता है। काल के द्वारा ही कर्म और काल की गणना होती है। धीरे-धीरे काल व्यतीत होता है और नूतन काल का आगमन होता है।

महाभारत की एक कथा में परिलक्षित होता है कि यक्ष ने सरोवर में पानी पीने के लिए युधिष्ठिर से गूढ़ धर्म और आध्यात्म के प्रश्न पूछे। उनमें से एक प्रश्न यह है यक्ष कहता है कि हे युधिष्ठिर बताओ क्या समाचार है हमारे चारो ओर सदा इसी प्रश्न का ताँता लगा रहता है। जिससे मिलिए जितनी बार मिलिए यही प्रश्न सामने आता है कहिए क्या समाचार है यह प्रश्न बहुत से उत्तर पाकर भी कभी सन्तुष्ट नहीं होता कहने को तो संसार के सभी प्रपंच इस प्रश्न के उत्तर हैं परन्तु युधिष्ठिर ने विचारपूर्वक इसका जो उत्तर दिया है। युधिष्ठिर ने कहा कि हे ! यक्ष संसार रूपी मोह का कड़ाहा है उसमें सभी प्राणी पड़े हुए हैं। रात-दिन का ईंधन जलाकर नीचे सूर्य की

*सहायक आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

आँच लगाकर महीने और ऋतुओं की करछुल से घोंटकर काल हर समय उन प्राणियों को थका रहा है।[3] बस यही एक सूचना यहाँ है। जैसा अजर अमर प्रश्न है वैसा ही उसका उत्तर है।

ऋषि भृगु ने पूर्वयुग में कालपरक एक गीत गाया काल अजर है काल की शक्ति अनन्त है। काल सबको देखता है वह सहस्र आँखों वाला है। सभी काल के रथ पर बैठे है ज्ञानी इस अश्व पर सवार होते हैं। मूर्खों पर यह स्वयं सवार रहता है। यह लोक इस अद्भुत् रथ के पहियों के साथ घूमते हैं। रथ की धुरी में अमृत है तभी तो वह कभी रुकने या खोजने का नाम नहीं लेता। काल लोकरूपी पहियों को आँगकर आगे ढकेलता है काल पहला देव है काल के सिर पर एक पूर्ण कुम्भ रेखा है। घड़ा ज्योति से आयु के जल से लबालब भरा हुआ है। घड़ा अनेक रूप धारण करता है। सूर्य-रूपी घट से ही चंचल बाल्यकाल मनमोहक यौवन और शुष्क जरा के अनेक रूप देखने में आते हैं।[4] काल सबसे ऊँचे लोक में है। काल ने ही इन भुवनों को जीवन से भर दिया है। काल ने ही रंग-बिरंगे जीवन को एक जगह इकट्ठा किया है। काल से परे कुछ नहीं है। काल ने द्युलोक को बनाया काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया भूत और भविष्य की हलचल काल के आश्रित हैं। सबका होना काल के अधीन है सूर्य का तपना काल के आधार पर है। काल सूर्य को छोड़ दे तो सूर्य भी जीवन की सुध भूल जाता है। सब पदार्थ काल के बल पर टिके हैं। आँख जो रात-दिन देखती है वह काल का ही पसारा है।

मन प्राण और नाम सब काल के साथ है। काल के वरदान को पास आया जानकर सब लोग आनन्द से नाच उठते हैं। तप और ब्रह्म-शक्ति काल में है। प्रजापति का पिता काल है। काल ने ब्रह्माण्ड को प्रेरणा दी काल से उसमें हलचल है और काल से ही उसे ठहराव मिलता है। काल ब्रह्म की शक्ति बनकर प्रजापति को सँभालता है। काल ने प्रजाओं को बनाया और उनसे भी पहले प्रजापति को बनाया। स्वयम्भू कश्यप काल से बने और काल ने ही तप को पैदा किया। जल जो सबकी माता है काल से उत्पन्न हुए। काल से दिशाएँ निकलीं। काल पाकर सूर्य आकाश में ऊँचे उठते हैं और काल की गति से फिर नीचे डूब जाते हैं। काल पाकर ही बड़ी-बड़ी आँधियाँ उठती हुई वायु प्रदेश की सफाई करती चली जाती है। काल के मंगल से पृथ्वी औषध वनस्पतियों की बढ़ती को पाती है। काल की कृपा से द्युलोक मेघों को गर्भ में भरकर महान् बनता है।

विधाता के मन्त्र ने काल में पहले भूत और भविष्य को रचकर देख लिया। ऋक् यजु और साम का त्रिविध चक्र काल से फैला। काल ने यज्ञ के सनातन ताने-बाने को फैलाया उसी से सृष्टि के देवों को अक्षय भाग पहुँचता है। काल ने गन्धर्व और अप्सराओं के नाना भाँति के जोड़ों (चन्द्र-नक्षत्र मन-इन्द्रिय आदि) को बनाया। काल पर ही सब लोक प्रतिष्ठित हुए और अंगिरा (प्राण और मन) काल पर रूके हुए है।[5] यह लोक और परलोक सब पवित्र विधानख व्रत और मर्यादाएँ काल की कीली पर टिकी हुई हैं। काल सबको वश में रखता हुआ ब्रह्म की शक्ति से घूमता है। मन्त्रों में काल से सम्बन्ध रखने वाले अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश पाया जाता है। प्राणियों की रचना में काल ने प्रमुख भाग लिया है। देश के साथ जब तक काल न मिले तब तक सृष्टि का पूरा चैखटा नहीं बनता।

सापेक्ष्यतावादी दार्शनिक देश काल के सम्मिलन को बहुत सच्चे अर्थों में सृष्टि का कारण मानते है देश स्थिति है काल उसको धक्का या गति देता है। संसार शब्द का अर्थ ही है जो चले। संसार काल के अधीन

है। जगत् का भी शब्दार्थ वही है गच्छति इति जगत् जो जाता है वह जगत् है। काल के बिना जाना हो नहीं सकता एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर वस्तु का हट जाना यह गमन क्रिया है। घड़ी की सुई एक अंक से हटकर दूसरे अंक पर चली जाती है इसी का नाम काल है। सुई की प्रगति का कारण काल है। ऊपर से देखने से जान पड़ता है कि घड़ी की सुई एक जगह से दूसरी जगह हट गई इसका फल क्षण मुहूर्त और घंटे है। वास्तव में काल ही घड़ी की गति का बीज है। काल फल नहीं है स्वयं बीज है निर्माता है पिता है। घड़ी तो मनुष्य की कल्पना का कल-पुर्जा है।

मनुष्य को चाभी चाहिए सुइयों में प्रगति आती है पर प्रकृति की घड़ी हमारे सामने है। उसकी चाभी में अमृत है वहाँ न गति की बाधा है न रोक है। सूर्य नक्षत्र और पृथ्वी स्थिर कोई नहीं है। सब जगत् के अन्तर्गत हैं। सब में ''गम्लृ गतौ''[6] धातु के रूप में समाये हुए हैं इनको धक्का देने वाली शक्ति कौन है यह प्रेरक शक्ति काल है। काल पृथ्वी को सूर्य के चारों ओर घुमाकर हमारे सामने रात-दिन महीना ऋतु और संवत्सर की कल्पना करता है। पृथ्वी का घूमना घड़ी की सुई की तरह स्थान बदलना है। इसके पीछे चाभी भरने वाली अमर शक्ति काल है। सारे ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं जो काल के सामने आकर पैर अडा सके। दूर से दूर तक के नक्षत्र और निहारिकाएँ सभी काल की प्रेरणा से धीरे-धीरे अपनी कुंडली खोलते चले जा रहे हैं। छोटे-से-छोटे परमाणु भी प्रगति के शासन में हैं। अरबों बरस भले ही लगें पर रेडियम के परमाणुओं का तेज छीनकर उन्हें सीसा बना देने की शक्ति काल ने अपने हाथ में रखी है।

वैज्ञानिक बताते हैं कि दो अरब बरसों में हिरण्यमय पदार्थों के परमाणुओं का विशकलन होते होते यह दशा हुई है यह प्रक्रिया काल की नाप की एक प्राकृतिक घड़ी मात्र है असल बात तो काल की अप्रतिहत शक्ति है अणु और महत् दोनों में वह व्याप्त है। मूर्त अमूर्त काल जो काल इतना बलवान् है क्या वही सृष्टि का कारण नहीं है इस प्रश्न का भारतवर्ष ने अपनी निजी दृष्टि से विचार किया है एक काल वह है जो लव-निमेष-युग के रूप में हमारे अनुभव में आता है। यह काल का मूर्त रूप हैं। घड़ी की सुई से बनने वाले मिनिट और घण्टों की तरह मूर्त काल प्रगति का फल हैं। इसके पीछे जो प्रेरक शक्ति है वह अमूर्त या अव्यक्त काल है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस बात की खोज करते हुए कि सृष्टि का कारण क्या है काल को एक कारण कहा गया है। पर यह पूर्वपक्ष है। सृष्टि का वास्तविक कारण तो ब्रह्म की अचिंत्य शक्ति है। काल का जो मूर्त या व्यक्त रूप है वह सृष्टि की प्रेरणा करता हुआ भी उसका आदि मूल कारण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जो काल ब्रह्मशक्ति का ही दूसरा नाम है जो सब देवों और सब भूतों से पीछे है वही अव्यक्त अमूर्त शक्ति सृष्टि का बीज है इसी काल को लक्ष्य करते हुए अथर्ववेद में काल को परम देव कहा गया है।[7] भारतीय दार्शनिक परिभाषा में काल और ब्रह्म पर्यायवाची हो जाते है। हमारे सहस्रनामश् ग्रन्थों में सब देवों के निरपेक्ष स्वरूप का एक नाम कालश् भी पाया जाता है। अमूर्त काल के व्यक्त अवयव सूर्य के द्वारा जाने जाते हैं। अतएव लवनिमेश से युगपर्यन्त काल सूर्य से गृहीत है। यह काल का शुक्ल या प्रकट पक्ष है। काल का जो एकरस रूप है उसमें मास ऋतु और संवत्सर के विराम चिन्ह कहीं देखने में नहीं आते। हमारी आँखों के सामने काल का जो प्रवाह है उसमें कहीं पर कोई पक्का निशान पड़ा हुआ नहीं मालूम पड़ता। काल के हिसाब-किताब की कल्पना अमूर्तकाल की दृष्टि से गाया है।

अव्यक्त काल को मूर्त काल की तुलना में ''कृष्ण'' कहा गया है सूर्य का दूसरा नाम गरूत्मा सुपर्णा या गरूड़ है। सूर्य खगेन्द्र है। रवे आकाशे गच्छति खगः अर्थात् आकाश में जो विचरण करे वह खग है। नक्षत्र और ग्रह ''खग'' हैं। इनमें सूर्य खगेन्द्र या पक्षिराट् है। सूर्य मूर्त काल का प्रतीक है। उसका उलटा जो एकरस काल है वह कृष्ण रूप होने से ''कागभुशुंडि'' कहा गया है।[8] गरूड़ कल्पान्त तक रहते हैं। जब तक विष्णु की सृष्टि है तभी तक गरूड़ है। कागभुशुंडि अमर हैं मृत्यु उनका स्पर्श नहीं करती। अहोरात्रवाद काल के ऊपर कहे दो स्वरूपों की दार्शनिक छान-बीन का प्राचीन नाम अहोरात्रवाद है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि से पहले की अप्रत्यक्ष दशा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उस समय रात और दिन का बिलगाव नहीं था। सृष्टि के होते ही प्रलय की कल्पना होती है। रात और दिन एक जोड़ा है। इसी के बहुत से नाम है। यह जगत् द्विधाबद्ध है। दिन सृष्टि है रात लय है दिन प्रकाश या ज्योति रात अन्धकार यह तम है। दिन शुक्लभाव है तो रात कृष्णभाव। दिन स्थिति है रात विघटन या चरभाव है। दिन का नाम सत्य और रात का नाम ऋत है। दिन द्युलोक है दिन के साथ देवों का सम्बन्ध हैं रात पृथ्वी है उसके साथ आसुरी शक्ति का सम्बन्ध है। असुरों की सत्ता रात में बढ़ती है। दिन ज्ञान और रात अज्ञान है। ब्रह्माण्ड में जब तक सूर्य की तरह के संचित शक्ति केन्द्र हैं तब तक सृष्टि या काल है। जब शक्ति के अधः प्रवाह से संचित केन्द्र विलीन हो जायेंगे अर्थात् शक्ति एकरस होकर सर्वत्र समान रूप से फैल जायगी तभी सृष्टि का अन्त होगा वही कृष्ण काल या प्रलय है।

विज्ञान की परिभाषा में शक्ति के इस बराबर बह जाने को ऊँचे केन्द्र से नीचे की ओर बँट जाने को ताप प्रगति का दूसरा नियम कहा जाता है। यहाँ एक दार्शनिक उलझन पैदा होती है यदि शक्ति के ऊध्व केन्द्र इसी तरह बिखरते रहेंगे तो प्रलय अवश्यम्भावी है उस प्रलय के बाद फिर सृष्टि कैसे होगी वैज्ञानिको का कहना है कि अब तक का जो हमारा अनुभव है उससे यह तो मालूम होता है कि शक्ति बट रही है। पर कहीं भी उपरोक्त दूसरे नियम की उल्टी प्रक्रिया देखने में नहीं आती अर्थात् ब्रह्माण्ड में बराबर फैली हुई शक्ति पैदा होते नहीं देखे जाते। जो जल एक समान धरातल पर फैल गया है उसे फिर ऊँचा उठाने के लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता होती है।

वैज्ञानिक बाह्य कारण को ईश्वर के रूप में मान लेते हैं। ऋषियों के अनुसार काल की प्रगति एक चक्र के समान है चक्रगति का नाम ही है। मनु ने इसे यों कहा है कि काल ही काल पर दबाव डालकर प्रलय के बाद सृष्टि करता है। घड़ी की जो चाभी खत्म हो गई है उसके कूकने का प्रबन्ध भी साथ ही साथ है। इसी का उदाहरण सोना और जागना है। सोने के बाद जागना उसी प्रक्रिया का फल है। प्रलय में पुनः शक्ति का संचय यही तप है किसी अचिन्त्य शक्ति के तप से ही भारतीय ऋषि सृष्टि का विकास स्वीकार करते हैं। लोमश अर्वाचीन भूगर्भशास्त्र और रेडियम के विज्ञान ने हमारी काल सम्बन्धी कल्पना को विस्तृत बना दिया है। दैव और ब्रह्म चार प्रकार के दिन-रात की कल्पना की गई है। महर्षि वार्कलि ने काल की माप का यह पहाड़ा स्थिर किया था -

१५ स्वेदायन = १ लोमगर्त, १५ लामगर्त = १ निमेष, १५ निमेष = १ अन, १५ अन = १ प्राण, १५ प्राण = १ इदम्, १५ इदम् = १ एतर्हि, १५ एतर्हि = १क्षिप्र, १५ क्षिप्र = १ मुहूर्त, १५ मुहूर्त = १ अहोरात्र।

महाभारत में काल विभाग का वर्णन प्राप्य है। यथा-

''काष्ठा निमेषा दश पंच चैव त्रिंशत् काष्ठा गणयेत् कलां ताम्।
त्रिंशत्कलाश्चापि भवेन्मुहूर्तो भागः कलायाः दशमश्च यः स्यात्।।
त्रिंशन्मुहूर्तन्त भवेदश्च रात्रिश्च संख्या मुनिभिः प्रणीता।
मासः स्मृते रात्र्यहनी च त्रिंशत् संवत्सरो द्वादशमास उक्तः।।''[9]

मनुस्मृति में 18 निमेष की 1 काष्ठा, 30 काष्ठा की 1 कला, 30 कला का 1 मुहूर्त तथा 30 मुहूर्त को अहोरात्र कहते हैं। यथा -

निमेषे दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशतु ताः कला। त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रतु तावतः।।[10]

काल विभाग के विषय में विष्णुपुराण में उल्लिखित है कि पन्द्रह निमेष एक काष्ठा के सम *तीस काष्ठा एक कला के सम तीस कला एक मुहूर्त के सम तीस मुहूर्त एक दिन एवं रात्रि के सम होता है। यथा -

काष्ठा पंचदशाख्याता निमेषा मुनिसत्तम। काष्ठात्रिंशत्कला मौहूर्तिको विधिः।।
तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्तैर्मानुषं स्मृतम्। अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः।।[11]

आगे पक्ष मासऋतु अयन संवत्सर युग कल्प के परिमाण है काल के इन भेदों का अनन्त काल के साथ जो सम्बन्ध है उसे पुराणकारों ने लोमश ऋषि की कल्पना से प्रकट किया है। एक सृष्टि ब्रह्मा का दिन और एक प्रलय ब्रह्मा की रात है। ऐसे रात-दिनों को जोड़कर जब सौ वप्र पूरे होते हैं तब ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाती है। लोमश ब्रह्म के पुत्र है ब्रह्मा की एक आयु लोमश की आयु का एक दिन समझा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोमश को प्रतिदिन अपने पिता का अन्त्य श्राद्ध करना पड़ता है। इसके लिए लोमश सारे सिर का क्षौर न कराकर अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं अर्थात् लोमश के एक-एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु के बराबर काल की सत्ता समाई हुई है। लोमश का नाम ही यह प्रकट करता है कि उनके रोम-रोम में काल का यह अनन्त परिणाम भरा हुआ है। लोमश की देह के रोएँ कौन गिन सकता है लोमश की आयु में कितने सर्ग और प्रलय पार उतर जाते हैं इसकी कल्पना भी गणित के अंकों द्वारा हमारे मन को नहीं हो सकती अनन्त काल की नाप करने में भी कौन समर्थ हो सका है दोनों की कल्पना से बुद्धि चकराने लगती है। काल और देश जीवन और चैतन्य अनन्तता और नित्यता अगम्य और अचिन्त्य रहस्य है।

सन्दर्भ -

1. निगमागमिक काल गणना मीमांसा, आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम्, पृ0 11
2. निगमागमिक काल गणना मीमांसा, आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम्, पृ0 12
3. महाभारत, वनपर्व, 3/22/315
4. निगमागमिक काल गणना मीमांसा, आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम्, पृ0 45
5. शीघ्रबोधः, डॉ0 ओमप्रकाश शस्त्री, पृ0 32-33
6. पाणिनि व्याकरण, उ0प्र0 संस्कृत संस्थानम्, पृ0 132
7. अथर्ववेद, कालसूक्त 12/1/1-63
8. ज्योतिर माया नंदा, स्वामी (2013)। रामायण का रहस्यवाद।
9. ज्योतिषशास्त्र प्रशिक्षक, गिरिजाशंकर शस्त्री, पृ0 1-2
10. मनुस्मृति 1/64
11. विष्णुपुराण 1/3/8-9

गाहासत्तसई में प्रतिपादित देवर-भाभी संबन्ध

· डॉ. पत्रिका जैन*

शोधसार -

भारतीय भाषाओं में एक रंग प्राकृत का भी है और इस प्राकृत को अमृत पद पर प्रतिष्ठित करने वाला महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध गाहासत्तसई ग्रंथ राजा हाल द्वारा संकलित किया गया है। यह ग्रंथ लोकजीवन में व्याप्त सामाजिक परिदृश्यों को उपस्थित कराता है।उस काल में भी देवर और भाभी का संबंध विविध रूपों में देखने को मिलता था। कभी देवर भाभी को माता के समान पूजनीय मानता था तो कभी भाभी पर कुदृष्टि रखता था तब भाभी उस परिस्थिति का कैसे सामना करती है? इन चित्रों को कुशल चित्रकार की भांति राजा हाल ने ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत शोधपत्र में इस संबंध के विविध रूपों का विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

बीजशब्द - गाथासप्तशती, रोमाञ्चदण्डराशि, रामानुलग्नसौमित्रचरित्र, कुटुम्बविघटनभय, पत्नी के बाहुमूल में अर्ध-चन्द्र की कतार

ईश्वरीय सृष्टि में भाषा का सदैव से स्थान विशिष्ट रहा है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में आत्मा अहम है उसी भांति विचारों को संपोषित करने के लिए भाषा भी महत्वपूर्ण है। विभिन्न भाषाओं से सजी संवरी भारतीय संस्कृति है। संस्कृत की भांति प्राकृतों का विशिष्ट स्थान रहा है। प्राकृत मध्यकालीन साहित्य की संवाहिका रही है। प्राकृत को अमृत काव्य के नाम से अलंकृत किया जाता रहा है। इसे अमृत काव्य के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए प्राकृत के विभिन्न रूपों में एकरूप महाराष्ट्र प्राकृत में निबंध गाथा सप्तशती का गौरवशाली स्वरूप सदियों से सुशोभित होता रहा है। इस ग्रंथ को सप्तशती परंपरा में अग्रगण्य होने का स्थान प्राप्त है। राजा हाल द्वारा संकलित यह ग्रंथ लोकजीवन के ऐसे सुंदर चित्रों को चित्रित करता है कि पढ़ने वाला सुध बुध खो इसी के आनंद सागर में गोते लगा रहा होता है।

समाज के परिदृश्य को समझने के लिए ये गाथाऐं विशिष्ट भूमिका निभाती है। पद्य रूप में निबद्ध यह ग्रंथ महाराष्ट्रीय प्राकृत की अनोखी निधि है। इस ग्रंथ में लोक जीवन के विविध चित्र तो प्राप्त ही होते हैं साथ ही नीतिगत गाथाएं जीवन को सही राह दिखाने के लिए मार्गदर्शक के रुप में उपस्थित होती हैं। मेरा यहां उद्देश्य गाथासप्तसती में वर्णित विविध पक्षों को उद्घाटित करना नहीं है अपितु मैं तो यहां पर सिर्फ देवर और भाभी के

*अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ

संबंध के विषय में इस ग्रंथ के आलोक में प्रकाश डालना चाहती हूँ। इस.रिश्ते के भी विविध पहलू हैं। इस ग्रंथ में उनका दिग्दर्शन हुआ है। प्रथम शतक में ही 28 वीं गाथा इस विषय पर प्रकाश डालती है।

णवलअपहरं अङ्गे जेहिँ जेहिँ महइ देवरो दाउँ
रोमञ्चदण्डराई तहिं तहि दीसइ बहूए ।।[1]
[नवलता देवरो प्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति दातुम् ।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः ॥]

देवर (पति का छोटा भाई) वधू (नायिका) के अङ्गों में जहां-जहां नवलता से चोट देने की चेष्टा करता है वहां-वहां उसके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं ।

कोई मनचला नायिका के सम्बन्ध में दूती से पूछकर यह जान लेना चाहता है कि नायिका किस प्रकार उसे मिल सकेगी। दूती ने देवरानुरक्त नायिका को असाध्य बताते हुए कहा कि वह अपने देवर के साथ किलोले कर रही है । उसका देवर नवलता से प्रहार करने की इच्छा मात्र करता है कि उसके शरीर में वहां-वहां रोमांच की दण्डराशि खड़ी हो जाती है। इस प्रकार नवलता से प्रहार की चेष्टा मात्र से रोमाञ्च का आविर्भाव होना निश्चय ही प्रकट करता है कि वह देवर से घर ही में फँस चुकी है, बाहर निकलने का कोई अवसर ही नहीं। ऐसी स्थिति में उसका तुम्हारे प्रति अनुरक्त होना किसी प्रकार सम्भव नहीं। सामान्यतः आजकल लोकजीवन में देवर भौजाई का परस्पर हास-परिहास देखा जाता है। पति का छोटा भाई होने से देवर को विशेष रूप से अपनी भौजाई के साथ हंसी-मजाक करने की छूट मिल जाती है (लेकिन पति का बड़ा भाई अर्थात् भसुर पितातुल्य समझा जाता है, वधू से उसका स्पर्श भी निषिद्ध है, हंसी-मजाक तो कथमपि सम्भव नहीं ।) प्रस्तुत गाथा में भी देवर भौजाई के परस्पर क्रीड़न का उल्लेख सिद्ध करता है कि हाल सातवाहन के समय में यह प्रथा लोक में चल पड़ी थी। रामायण काल में लक्ष्मण और सीता (देवर और भौजाई) का सम्बन्ध स्वस्थ एवं पवित्र था। अगली गाथा इसी शतक में 35 वीं आती है। इसमें देवर के आशुद्ध मन की बात कही गई है।

दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलबहू णिअअकुड्डुलिहिआईं ।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचरिआईं ॥[2]
[देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजककुड्य लिखितानि ।
दिवसं कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥]

अपने प्रति देवर के मन को अशुद्ध (कालुष्यपूर्ण) जानकर कुलवधू सारे दिन घर की दीवाल पर राम का अनुगमन करते हुए लक्ष्मण के चरित्रों को चित्रांकित करती रही।

गाथा में नववधू के लिऐ शिक्षा के साथ आदर्श स्वरुप उपस्थित हुआ है। घर की किसी बड़ी-बूढ़ी ने नववधू को सतीत्व की रक्षा का उपदेश देते हुए किसी विशेष घटना को बताया- 'जब कुलवधू ने यह ताड़ लिया कि उसका देवर उसके प्रति बुरी भावना से ग्रस्त हो चुका है तब अपने सतीत्व की रक्षा के लिए देवर को अपने पास बैठा लिया और दिनभर राम के अनुगामी लक्ष्मण के चरित्र को दीवार पर चित्रित करती रही। उस कुलाङ्गना का मंतव्य यह था कि राम को पितासदृश मानकर जैसे लक्ष्मण ने आदर्श भ्रातृत्व की मर्यादा कायम

की, उसी भांति तुम्हें भी ज्येष्ठ भ्राता के प्रति पितृतुल्य व्यवहार करना चाहिए। दिन भर चित्रांकन करने की व्यञ्जना इसलिऐ है कि देवर कहीं रात में अपनी अशुभ भावना से भावित मर्यादा के उल्लंघन की चेष्टा न करे। यह सोचकर कुलवधू ने सारा दिन इसी प्रयत्न में व्यतीत किया। नायिका कुलवधू होने के कारण ही उत्पन्न परिस्थिति को ढङ्ग से अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्नशील है। वह यह नहीं चाहती कि इस बात को कोई दूसरा भी जाने । ऐसा करने से कुटुम्ब में विघटन की स्थिति हो सकती है। भाई-भाई (उसके पति और देवर) में परस्पर विवाद हो सकता है । उपदेशिका का नववधू से कहने का अभिप्राय यह है कि वह भी इस प्रकार की स्थिति पहुंचने पर अपने सतीत्व की रक्षा करे । अगली गाथा इसी शतक में 59वीं है। इसमेँ भी देवर के अशुद्ध भाव का उद्घाटन है।

असारिचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे बिसमसीले।
ण कहइ कुडुम्ब विहडणभएण तणुआअए सोण्हा।।[3]
[असददृशचित्ते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमे विषमशीले।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेण तनुकायते. स्नुषा।]

वधू को यह.पता लग चुका था कि देवर का मन उसके प्रति दूषित है। तब वधू उल्टे स्वभाव वाले पति से इस बात को नहीं बताया। क्यों कि वह भयग्रस्त हो गई कि ऐसा करने से पूरा परिवार विघटित हो जाऐगा। (सब एक दूसरे से नाता तोड़कर अलग हो जायेंगे) और वह दिन पर दिन कृशकाय होने लगी। प्रौढा द्वारा नवीन वधू को उपदेश । परिवार में संघटन और विघटन का कारण विशेष रूप से स्त्रियां होती हैं। विघटन उत्पन्न करनेवाली स्त्री सम्मान के योग्य नहीं मानी जाती । अतः प्रौढ़ा ने नववधू को उपदेश देते हुए किसी घटित घटना को कहा कि देवर को दूषित मन जानकर भी वधू ने अपने पति से कुछ नहीं कहा, क्योंकि वह अपने पति के शील से परिचित थी। उसे डर हो गया कि ऐसा करने पर कुटुम्ब में विघटन होने की सम्भावना है। इस बात को मन में ही रख लिया और मानसिक दुःख के संगोपन से दिनानुदिन पतली होने लगी । उपदेश का तात्पर्य है कि इस प्रकार से किसी अवसर के उपस्थित होने पर स्वयं कष्ट सह लेना अच्छा है पर कुटुम्ब के विघटन का कारण बनना ठीक नहीं । ऐसी त्याग और सहन करने की भावना भारतीय संस्कृति में ही बलवती हो सकती है।

पंचम अङ्क में इस विषय को पुष्ट करती 66वीं गाथा प्राप्त होती है। इसमें स्वच्छंद विचरण करने वाले देवर का वर्णन दिखाई देता है।

गामणिघरम्मि अत्ता एक्क व्विअ पाडला इहग्गामे।
बहुपाडलंच सीसं दिअरस्स ण सुन्दरं एअं ॥[4]
[ग्रामणिगृहे श्वश्रू एकैव पाटला इह ग्रामे।
बहुपाटलं च शीर्षं देवरस्य न सुन्दरमेतत् ॥]

सासू जी, इस गाँव में मुखिया के घर में एक ही पाटला (वृक्ष) है, देवर जी के सिर पर पाटला के बहुत से फूल रहते हैं, सो ठीक नहीं ।

माँ को भाभी का वचन। घर के सम्मान की रक्षा के लिऐ चिंतित सास के प्रति मुखिया की पत्नी में आसक्त देवर के निवारणार्थं भाभी का संबोधन है। भाभी का स्थान माँ के समान ऊंचा होता है। प्रस्तुत गाथा में वह अपने घर के प्रति दायित्वों का निर्वहन कर रही है।

अग्रिम गाथा षष्ठम अङ्क में 70वीं है। इस गाथा में भाभी देवर के गोपनीय रहस्यों को जान परिहास कर रहीं हैं।

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि।
जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणं परिवार्डि ॥[5]
[अयि देवर किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि ।
जायाया बाहुमूलेऽर्धचन्द्राणां परिपाटीम् ॥]

ऐ देवर जी, आकाश में व्यर्थ क्यों देखते हो? पत्नी के बाहुमूल में अर्ध-चन्द्रों की कतार पर क्यों नजर नहीं डालते?

भाभी का परिहास, देवर के प्रति। अर्धचन्द्र अर्थात् नखक्षत होने.से उत्पन्न आधे चंद्रमा की आकृति को देखकर भाभी देवर से कहती हैं। आप बेकार में आसमान को देख रहे हैं। पत्नी के साथ विताऐ सुखद पलों की छाप बांह पर चित्रित अगली गाथा सप्तम शतक में 88वीं है। इसमें भाभी शिकायत कर रही है कि पहले आप ध्यान देते थे। अब अन्यमनस्क हो गए हो।

सच्चं साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएन ।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तणं सिक्खिअं कत्तो ॥
[सत्यं कथय देवर तथा चाटुकारकेण शुककेन ।[6]
निर्वर्तितकार्यंपराङ्मुखत्वं शिक्षितं कस्मात् ॥

हे देवर ! सच बताओ, काम पूरा होने पर मुँह फेर लेना किस खुशामदी कुत्ते से सीखा है ।।

भाभी और देवर के मध्य पहले रिश्ते अच्छे थे। अब किसी.बात पर वह.रूठ गया है। भाभी देवर का स्वभाव जानती थी इसी लिऐ वह कह रही है किस खुशामदी इंसान ने तुम्हें मेरे खिलाफ बहकाया है। इस गाथा से पूर्व में स्वस्थ और पश्चात् मे अस्वस्थ रिश्ते की कसक भाभी की उक्ति में दिख रही है।

सन्दर्भ -

1. गाहासत्तसई 1/28
2. गाहासत्तसई 1/35
3. गाहासत्तसई 1/59
4. गाहासत्तसई 5/66
5. गाहासत्तसई 5/70
6. गाहासत्तसई 7/88

प्रत्यभिज्ञादर्शन में ज्ञान एवं भक्ति का सामञ्जस्य

· डॉ. गौरव सिंह*

शोधसार –

शिव की त्रिवेणी में प्रत्यभिज्ञा का विशेष स्थान है। प्रत्यभिज्ञा 'मनन या विचारशास्त्र' है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में ज्ञान-भक्ति के परस्पर सामञ्जस्य से जो शक्ति प्राप्त होती है, वह मोक्षदायक है। ''ईश्वरोऽहम्'' इस प्रकार का भी ज्ञान होता है उसे उत्पलदेव ने बताया कि परमशिव की कृपा से ही ईश्वर का साक्षात्कार ज्ञात हुआ है और यह ज्ञान और भक्ति के कारण ही हो पाया है।

अतएव साधना मार्ग से त्रिक् दर्शन ज्ञान एवं भक्ति का समन्वय रखता है।

बीजशब्द – प्रत्यभिज्ञादर्शन, काश्मीरीशैवदर्शन, ज्ञान, भक्ति, शिव, शक्ति स्वातन्त्र्य।

प्रत्यभिज्ञादर्शन भारतीय चिन्तन राज्य की एक अति प्राचीन तथा दुर्लभ सम्पदा है। काल की विचित्रगति के कारण आज अपरिचितप्राय होने पर भी यह स्वीकार करना ही होगा कि एक समय में इसका प्रभाव भारतीय साधना क्षेत्र में सर्वत्र परिव्याप्त था । जो हमारी सभ्यता की विशिष्ट धारा का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सूक्ष्म भाव से पर्यालोचना करने का प्रयत्न कर गये हैं, प्रत्यभिज्ञावाद के महत्त्व को वे सहज ही धारण कर सके हैं। निगम तथा आगम, वेद तथा तन्त्र, इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है, यहाँ इस विचार का प्रयोजन नहीं है। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि इस निगम तथा आगम में ही भारतवर्ष की सनातन साधना का बीज निहित है । श्रीमद्भागवत को निगम कल्पतरु का गलित फल कहा गया है । मेरा विचार है कि यह वर्णन आंशिक सत्य है । कारण भागवत जैसे निगम का गलित फल है उसी प्रकार यह आगम कल्पतरु का भी गलित फल है। पांचरात्र आगम में जो कुसुमित है, श्रीमद्भागवत में वही परिपक्व रसबहुल फलरूपेण परिणत है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त भी आगम का, शैवागम का सारभूत रस स्वरूप है। श्रीमद्भागवत का अवलम्बन लेकर गौड़ीय वैष्णवगण 'अचिन्त्य भेदाभेद' रूप से अपूर्व दार्शनिक सिद्धान्त की अवतारणा करते हैं। स्वच्छन्द, मालिनी विजय प्रभृति आगम तथा तैत्तिरीय संहिता प्रभृति निगम समुद्र का मन्थन करने से काश्मीरीय शैव गण ने उसी प्रकार 'ईश्वराद्वयवाद' नामक प्रोज्वल रत्नमाला का आविष्कार किया था - यह भारतीय साधना का गौरवस्तम्भ है।

नामकरण – 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' नाम अधिक पुरातन नहीं है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में इस नाम का

*सहायक आचार्य, अभिनव गुप्त संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सर्वप्रथम प्रयोग किया था तथा मैं भी उनका अनुसरण करके इसी नाम को ग्रहण करता हूँ। "प्रंतीयमात्माभिमुखयेन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा"[1] प्रत्यभिज्ञाहृदय, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी प्रभृति प्राचीन ग्रन्थ के नामकरण में प्रत्यभिज्ञा शब्द का व्यवहार अवश्य है, किन्तु मेरा विश्वास है कि न्याय, वैशेषिक प्रभृति के समान दार्शनिक सिद्धान्त विशेष का यह वाचक नहीं है। सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के मत से काश्मीरीय शैवागम दो भागों में विभक्त है। प्रथम है स्पन्दशास्त्र, द्वितीय है प्रत्यभिज्ञाशास्त्र । स्पन्दशास्त्र के प्रवर्त्तक हैं वसुगुप्त, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के प्रवर्त्तक हैं सोमानन्द।[2] यह विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ अंश में सत्य होने पर भी विचार दृष्टि से भ्रान्तिमूलक है। क्योंकि स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा प्रतिपादक ग्रन्थों में अवान्तर दो-एक विषय में तनिक मतभेद का आभास रहने पर भी दोनों शास्त्र के मूल सिद्धान्तों तथा आलोचना प्रणाली में कुछ पार्थक्य है। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन शब्द से स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा ये दोनों ही द्योतित होते हैं। प्राचीन साहित्य में 'त्रिक् दर्शन' तथा 'माहेश्वर दर्शन' प्रभृति नाम विशेष प्रचलित थे, किन्तु माधवाचार्य का अनुकरण करके यह प्रत्यभिज्ञा नाम ही अधिकांश स्थल में ख्यातिप्राप्त हो गया। विमर्शिनी में भी कहा गया है- स्वयं की पहचान ही प्रत्यभिज्ञा है-

"प्रतीयमात्माभिक्षुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा"[3]

ज्ञान-भक्ति का सामञ्जस्य-

इस अद्वैतवाद का एक और विशेषत्व यह है कि वह शुष्क ज्ञानमार्ग नहीं है। ज्ञानहीन भक्तिमार्ग भी नहीं है, इसमें ज्ञान और भक्ति, दोनों का सामञ्जस्य है। शंकर प्रदर्शित अद्वैतवाद की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शंकर के मत से भक्ति द्वैतमूलक है, तभी अद्वैतावस्था में, ज्ञानाविर्भाव में, इसकी सत्ता नहीं रहती । बल्कि यह साधनरूपा अज्ञानमूलक भक्ति है। किन्तु अद्वैत भक्ति रूप जो पदार्थ है, वह शास्त्र तथा महाजनगण के अनुभव से जाना जा सकता है। यह नित्य पदार्थ है। सामान्यतः जिसे हम मोक्ष कहते हैं, वह वास्तव में नित्यसिद्ध ज्ञान-भक्ति का आवरण भंग होने का समुन्मेष मात्र ही है। त्रिकदर्शन में इसे ही चिदानन्द लाभ अथवा पूर्णाहन्ता चमत्काररूपेण अभिहित किया गया है। चिदंश है ज्ञानभाव तथा आनन्दांश है भक्ति । परमतत्त्व स्वातंत्रमय स्थिति ही है पूर्ण शक्ति । तभी इस मत के चरम में शिवशक्ति का सामरस्य ही स्वीकृत है। कभी भी शक्ति की अभावकल्पना अथवा अवास्तवत्व कल्पना नहीं की गयी है । वास्तव में शिव-शक्ति अभिन्न हैं। दोनों में भेद नहीं है। रह भी नहीं सकता। तब विश्वदृष्टि से सृष्टि को भी संहार अथवा उन्मेष-निमेष के दृष्टिकोण से लक्ष्य करने पर शक्तिप्रधान अथवा शिवप्रधान रूप एक ही परमतत्त्व का निर्देश किया गया है, किन्तु शक्तिप्रधान अवस्था में भी शिवभाव रहता है । प्रकाशमय शिवभाव में ही विमर्शात्मक शक्ति का विकासस्वरूप बिम्ब प्रतिबिम्बित होता है और शिवप्रधान अवस्था में भी शक्तिभाव ही रहता है। तब विश्वबीज शक्ति प्रकाश में विलीन रहती है।

इन दोनों की सामरस्यावस्था को (जहाँ शिव तथा शक्ति दोनों साम्यप्राप्त है) शिव नहीं कहा जा सकता, न शक्ति ही कहा जा सकता है, अथच उभय भाव ही एकाकार में वहाँ विद्यमान हैं। यही है परमभाव । हमारे दर्शन में इसे सर्वतोभाव की प्रतिष्ठा कहकर वर्णन किया गया है। यहाँ चिदंश शिवभाव तथा आनन्दांश

शक्तिभाव परस्परतः सम्मिलित है। इसी कारण यह ज्ञान भक्ति की सामञ्जस्यावस्था है। यह स्मरण रखना होगा कि पूर्वोक्त शिव तथा शक्ति एवं यह सामरस्य, सभी नित्य हैं। यह एक ही पदार्थ का दो दिक् मात्र है।

प्रसाद है कि षट्पञ्जारिका स्तोत्र श्री शंकराचार्यरचित है। उसमें कहा गया है-

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवैवाहं न मामकीनत्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः न क्वचन तरङ्गो हि सामुद्रः ॥[4]

यदि वास्तव में यह शंकराचार्य रचित है, तब यह कहना होगा कि उन्होंने अद्वैतभक्ति का प्रचार किया था। 'सत्यपि भेदापगमे' इस वाक्यांश की संयोजना से स्पष्ट हो जाता है कि वे कहना चाहते हैं भेद अपगत हो जाने पर 'मैं तुम्हारा हूँ' अतएव अभेद अवस्था में भी 'मैं तुम्हारा' भाव रह सकता है। यह दासात्मक भक्तिभाव है। यद्यपि ज्ञान द्वारा 'तुम' तथा 'मैं' का भेद तिरोहित हो गया है, तथापि पराभक्ति के प्रभाव से उस अद्वैत समुद्र में भी कल्पित भावाद्वैत की तरंगें उठती हैं। यह द्वैत वस्तुतः द्वैत नहीं है। इस अवस्था में भक्ति को अद्वैतभक्ति कहना असंगत नहीं है। यह है नित्यभाव। नरहरि कहते हैंः-

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥ जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् । मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्मपरमात्मनोः॥[5]

अद्वैतभक्ति क्या है, तथा स्वरूप-लाभ कैसे होता है, यह विवरण देना यहाँ निष्प्रयोज्य है। नारायणतीर्थ ने अपने ग्रन्थ भक्तिचन्द्रिका नामक शाण्डिल्यसूत्र के भाष्य में इस भक्ति का विस्तृत वर्णन किया है। अन्यान्य स्थलों में भी यह प्रसंग आया है। **त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड (अध्याय 20, श्लोक 33-34)** में है कि प्रकाशसार परमतत्त्व का अपरोक्षरूपेण आत्मभिन्नभाव से साक्षात्कार करके भी कोई परमभक्त प्रीति के साथ उनकी सेवा करते रहते हैं। सेवा के लिए जाते ही सेव्य सेवक भाव रहना चाहिये। अद्वयावस्था में यह भाव कैसे सम्भव है? तभी कहा गया है कि भेदभाव का अवलम्बन करके सेवा करनी चाहिए। यह वास्तव में आहार्य भेद है, वास्तव में नहीं है। परमतत्त्व सामरस्यरूप है। वहाँ तो भेद नहीं है। वह सर्वावस्था का सन्धिस्थल है। तब इस भेंट का आहरण करने का प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन कुछ नहीं है। यह रुचिभेद में स्वभाव का स्वरस है।

इससे यह उपलब्धि होती है कि ज्ञान के अनन्तर भी भक्ति रह सकती है। यह कैतवहीन होने के कारण सुभक्ति है। अज्ञानामूलक द्वैत अथवा साधन भक्ति के समान स्वार्थानुसन्धानात्मक नहीं है। अद्वैतभक्ति के लिए भी एक भेद आवश्यक है। यह है कल्पित तथा ज्ञानपूर्वक और एक बात है, ज्ञान के पश्चात् अद्वैतभक्ति सभी में जाग्रत होगी. ऐसा नहीं है। जिनका हृदय स्वभावतः भक्तिप्रवण है, उनमें ही अद्वैतभक्ति का उदय होता है। ज्ञानार्थी को यह नहीं होता। किन्तु उदित हो अथवा उदित न हो, चरम ज्ञान तथा भक्ति एकाकार हो जाते हैं, जिसे पूर्णाहन्ता अथवा आत्मसाक्षात्कार कहा जाता है। (स्वात्मचमत्कार कहा जाता है) वह ज्ञान की सीमा तथा प्रेम से भी चरम है। इसलिए समन्वय भूमि है। यहीं से ही दोनों स्रोत प्रवाहित होते हैं।

दासात्मक भक्ति ही त्रिक्-दर्शन में अंगीकृत है। भगवान् प्रभु, पिता अथवा गुरुभक्त दास, पुत्र अथवा शिष्य हैं। केवल त्रिक्दर्शन में ही नहीं, शैवागम मात्र में ही यह भावप्राधान्य दृष्ट होता है। वीरशैवादि मत में यही सिद्धान्त स्वीकृत है। शाक्तगम में भी मूलतः इस सम्बन्ध में कोई प्रभेद लक्षित नहीं होता। तब भी पितृभाव

के स्थान पर मातृभाव यहाँ कल्पित होता है। उसमें यही विशेषता है। किन्तु इस भावत्रय में दास्यभाव ही मूलभूत है, तभी इसी का प्राधान्य कीर्त्तित होता है। शान्तभक्ति स्फुरण अवस्था मात्र है। तनिक विकसित होने पर उसमें दास्यभाव का रंजन लग जाता है। अद्वैत से द्वैत की तरंग इसी भाव में उठती है। विकास जितना भी हो, यह रंजन कभी नहीं छूटता । यद्यपि गौड़ीय वैष्णवों की मण्डली में सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भाव भी अंगीकृत होता है, तथापि यह भी सत्य है कि सर्वतोभावेन मूलभूत दास्यभाव अनुस्यूत है।

जैसे भूतदृष्टि से वेदान्तमत में आकाश से वायु, वायु से अग्नि इत्यादि क्रम से पृथ्वी का आविर्भाव हुआ है, उसी प्रकार रसविकास में भी शान्त से दास्य, दास्य से सख्य इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर रसपुष्टि होती जाती है। आकाश का अपना गुण है शब्द । वायु उत्पन्न होने पर शब्दगुण तो उसे प्राप्त है ही, उसके अतिरिक्त वायु का अपना गुण स्पर्श विकसित होता है। इसी प्रकार से क्रमशः एक-एक गुण वृद्धिगत होता जाता है और पहले-पहले वाला - गुण अनुवृत्त होता जाता है। तभी पृथिवी में पाँचों भूतों का गुण है। उनमें से शब्दादि चार समागत सामान्य गुण हैं, गन्ध उसका अपना विशेष गुण है । इसी प्रकार से भाव का क्रमविकास भी समझना चाहिये । शान्तभाव का विशेषगुण निष्ठा - दास्य में अनुवृत्त हो जाता है, अथच दास्य का अपना गुण सेवा भी उसमें स्फुटित हो जाता है । सख्य में शान्त तथा दास्य का धर्म अनुवृत्त होता है, तथा अपना स्वधर्म असंकोच भी विकसित होता है। इस प्रकार से माधुर्य में सभी रस के गुण हैं, अर्थात् निष्ठा - सेवा - असंकोच तथा लालन तो वर्तमान है ही, उसका अपना विशेष गुण आत्मसमर्पण भी उसी में स्फूर्त हो उठता है ।

त्रिक् दर्शन दासात्मक भक्ति को मानकर भक्ति के सभी तत्त्वों को मान लेता है। और केवल मूल ही को माना हो, ऐसा नहीं है। भक्ति के जो प्रेम-माधुर्य रूप गुण हैं, उनका भी आभास स्वीकार किया है। तथापि स्मरण रखना होगा कि यह भक्ति अज्ञानमूलक द्वैतभाव प्रसूत नहीं है। यह है परिस्फुट अद्वैतावस्था। अथच एक प्रकार से परिस्फुट द्वैत भी है। तब यह है अलौकिक। यहाँ एक साथ ज्ञान तथा भक्ति और चित् तथा आनन्द का समावेश परिलक्षित होता है। इसी का नाम है शिवशक्ति का सामरस्य। इस रसतत्त्व में ही ऐक्य तथा वैचित्र्य का पूर्ण सामञ्जस्य है। यही रस ब्रह्मानन्द से विलक्षण एवं विशिष्ट है। ब्रह्मानन्द में आस्वादन नहीं रहता। उसमें चर्वण नहीं है, अहंभाव नहीं है। त्रिपुटी नहीं है। किन्तु रस में सब कुछ है, अथच वह अलौकिक है। पूर्णाहन्ता का चमत्कार ही है रसबोध - इसमें अभेद के मध्य एक अलौकिक भेद है, अन्यथा आस्वादन कैसे होता? तब भी यह भेद लौकिक भेद नहीं है। यह है वैकल्पिक भेद। अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनव भारती' में रसतत्त्व की जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आलोचना की है उसमें रसस्वरूप अनेक रूप से परिष्कृत हो गया है। अभिनवगुप्त का मत है कि सर्वथा रसनात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।

"सर्वथा रसनात्मको बीसंविघ्न प्रतीतिग्रह्यो भाव एव रसः"[6]

प्रश्न उत्थित होता है- क्या यह रस शान्तरस मात्र है, किंवा दास्य भी है। मैंने पूर्व में जो कहा है उससे इसका समाधान हो जायेगा। भक्ति रहने से मूल में दास्यभाव रहेगा ही। शान्तभाव को भक्ति का बीजभाव भले ही कहा जाय, किन्तु यह परिस्फुट भक्ति नहीं है। दास्यबोध न होने तक स्वयं को एक अनन्त वस्तु के साथ

अभिन्न मानकर जब तक उसके आश्रय में हो जाने का बोध जाग्रत् नहीं होता, तब तक भक्ति राज्य का प्रारम्भ नहीं होता। शान्तभाव उसी का सूत्रपात्र करता है यह जो अनन्त वस्तु है, यह स्वयं अपनी आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है । तभी ब्रह्मभाव से शान्तरस एवं तदनन्तर दास्य आदि का आविर्भाव होता है। शान्त में, किंवा दास्यादि में वह ब्रह्मभाव अनुवृत्त रहता है, अथच उसी के ऊपर शुद्ध अप्राकृत सत्व की लहरें क्रीड़ारत रहती हैं।

अन्धकार फैला है। आलोक के वक्ष पर आलोक की लहरें नाचती रहती हैं। यह लहरें ही हैं 'उल्लास तथा रस'। इनकी विचित्रता ही है लीलाविस्तार। ये लहरें शुद्ध स्वरूप में चिर प्रवर्त्तमान हैं। तभी वैष्णवों की तरह नित्यलीला को शैवगण भी मानते हैं। तभी क्षेमराज शिव का '**कैलासादिषु नित्यप्रवर्त्तमान प्रमोद निर्भरक्रीडामयं लोकोत्तर प्रभावं विस्तारयित्रे**'[7] कहकर वर्णन करते हैं।

भक्ति रसस्वरूप है, इसे कोई-कोई, विशेषतः आलंकारिकगण स्वीकार करते हैं। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट, रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति आलंकारिक लोग भक्ति को भावकोटि में रखते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है । साहित्यसारकर्त्ता अच्युतराय बतलाते हैं कि गीता में[8] '**अद्वेष्टा सर्वभूतानां**' से लेकर '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' पर्यन्त वाक्य से ज्ञात होता है कि मुख्य भक्ति जीवन्मुक्ति का ही नामान्तर है । 'जीवन्मुक्ति विवेक' ग्रन्थ में विद्यारण्य स्वामी ने यही कहा है, 'जीवन्मुक्तः स्थिरप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते'। इस प्रकार से देखने पर यह कुछ न कुछ शान्तरस के अन्तर्गत हो जाती है। इसी कारण आलंकारिकों ने भक्ति को स्वतन्त्र रस नहीं माना है। अर्थात् मुख्यभक्ति रस है, इस विषय में आलंकारिकगण असहमत नहीं हैं। तब भी इसे शान्तरस से भिन्न मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। दूसरी ओर भक्तगण जो कुछ कह गये हैं, वह भी सत्य है। वे कहते हैं, 'भक्ति जब अद्वैत आत्मतत्त्व विषयक वृत्तिविशेष है, तब उसमें रसत्व को अङ्गीकार नहीं किया जाता। साहित्यसार ग्रन्थ की टीका में स्पष्टतः कहा है कि भक्ति मुख्य तथा गौण, परा अथवा अपरा भेद से दो प्रकार की है। अलंकारशास्त्र की मुख्य भक्ति शान्तरस के अन्तर्गत है तथा गौणभक्ति भाव मात्र है। भक्तिशास्त्र में शान्तरस अपनी ही भक्ति विशेष है, मुख्य भक्ति है रसस्वरूप ।

शाण्डिल्य तथा **नारद** अपने **भक्तिसूत्र में, मधुसूदन सरस्वती भक्तिरसायन में** तथा **श्रीरूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु** में भक्ति के रसत्व का उपपादन करते हैं। इस क्षेत्र में उन आलोचनाओं का यहाँ प्रयोजन नहीं है। यहाँ यही यथेष्ट है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्यगण भक्ति को रसरूप में स्वीकार करके अध्यात्मराज्य के एक गम्भीरतत्त्व को प्रकट कर गये हैं । **उत्पलदेव** अपनी **शिवस्तोत्रावली** में कहते हैं :

जयन्ति भक्तिपीयूष रसासव वरोन्मदाः ।
अद्वितीया अपि सदा तद्वितीया अपि प्रभो ॥

पराभक्ति की यही विशेषता है कि इस स्थिति में किसी 'द्वितीय' के न रहने पर भी 'द्वितीय' रह जाता है। नवद्वीप के श्रीगौरांग महाप्रभु इसी कारण अचिन्त्य - भेदाभेद तत्त्व का प्रचार कर गये हैं । जो यह मानते हैं कि दो होने से ही मिथ्या हो जायेगा, उन्होंने पूर्ण सत्य के मात्र एक ही प्रान्तर को देखा है ।

अज्ञान उच्छिन्न हो जाने पर भी ऐक्यस्फुरण होने पर ऐक्य के समय दो रह सकते हैं। यद्यपि ये दो भी एक ही शुद्धभाव का आत्मप्रसारण मात्र है। कहा है :-

नाथ वेद्यक्षयं केन न दृश्योऽस्येककः स्थितः ।
वैद्यवेदक संक्षोभेऽप्यसिभक्तैः सुदर्शनः ॥
"चैतन्यमात्माऽज्ञानं बन्धः"[9]

अन्तर्मुखीनावस्था में सभी वेद्य का उपशम हो जाने पर भी 'एक' रूप से जिसका स्फुरण होता है, वेद्यवेदक संक्षोभ वैचित्र्य में भी भक्तगण उन्हें ही समावेश की अधिकता के कारण देख पाते हैं। जो विश्वातीत हैं, वे ही हैं विश्वात्मक । अथच दोनों ही हैं एक ही समय। जहाँ ज्ञान तथा भक्ति समरस स्थिति में समासीन है, वहीं पर समरस विश्वातीत तथा विश्वात्मक समभाव से प्रकाशित हैं। द्वैताद्वैत सामञ्जस्य वहीं पर है। यही ईश्वराद्वयवाद की विशेषता ज्ञात होती है। अतः शिव की इच्छा शक्ति जब विकसिता का रूप धारण करके वैश्विक रूप में कार्य प्रकाशन की शक्ति बनती है, इसे ही ज्ञान शक्ति कहते हैं। परमशिव स्वयं ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान स्वभाव से युक्त हैं। इसी ज्ञान और भक्ति से वेद्योन्मुखता होता है। अतएव साधनमार्ग से त्रिकदर्शन ज्ञान एवं भक्ति का समन्वय रखता है। बन्धन मुक्त करने वाली विद्या मुक्ति है जिसका स्वभाव है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् शिव की स्वातन्त्रय शक्ति का पूर्ण परिज्ञान इसलिए अभिनवगुप्त कहते हैं- **''मोक्षो हि नामनवाप्यः स्वरूपप्रथनं' हि सा''**।

सन्दर्भ –

1. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1/1/1
2. आर.सी. भण्डारकर- वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृष्ठ संख्या-110
3. विमर्शिनी, 1/1/1
4. विष्णुषट्पदीस्तोत्रम्-3
5. बोधसार, भक्ति-42
6. नाट्यशास्त्र, 6;32, अभिनवभारती, पृष्ठ, 473
7. स्तवचिन्तामणि टीका, पृष्ठ 60-61
8. जीवन'मुक्तिविवेक-1/14
9. शिवसूत्र-1

वेद कालीन शिक्षणाभ्यास प्रक्रिया – एक अध्ययन

· डॉ. ऋचा पाण्डेय*

शोधसार –

वैदिक कालीन शिक्षा का अर्थ जीवन पर्यंत चलने वाली शिक्षा से था। शिक्षा मनुष्य को सभ्य तथा उसके जीवन को उन्नत करने वाला साधन के रूप में माना जाता था। वैदिक काल में शिक्षा न तो पुस्तकीय ज्ञान में विश्वास रखती थी और न ही जीविकोपार्जन का साधन मात्र थी। अपि तु वैदिक कालीन शिक्षा को तो पूर्ण रूप से नैतिक एवं आध्यात्मिक विज्ञान का सोपान माना जाता था। उस समय की शिक्षा का अर्थ था कि व्यक्ति को किस प्रकार से आत्मप्रकाशित किया जाए कि उस का सर्वांगीण विकास हो सके ।प्रस्तुत शोध पत्र में वैदिक काल में शिक्षण प्रक्रिया कैसी थी, उस विषय में सांगोपांग चर्चा की गई है।

बीजशब्द – वेद कालीन, शिक्षण, ब्रह्मसूत्र, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, प्रातिशाख्य

वेद कालीन शिक्षण अभ्यास की प्रक्रिया से तात्पर्य है कि वेद कालीन शिक्षण के अभ्यास की क्या प्रक्रिया थी किस प्रकार से अभ्यास किया जाता था उसके क्या साधन थे इत्यादि। मानव व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन लाने हेतु जिन विशेष परिस्थितियों का विद्यालय प्रांगण और कक्षा कक्ष में निर्माण किया जाता है उनका उद्देश्य अध्येता की स्मृति शक्ति को विकसित करते हुए बौद्धिक व्यवहारों में परिवर्तन द्वारा उसके मौलिक काल्पनिक और समीक्षात्मक चिंतन स्तर को विकसित करना है।[1] विकास की इस शृंखला को शिक्षाविदों ने तीन भागों में विभक्त किया है। स्मृति स्तर, बोध स्तर एवं चिंतन स्तर।

जिसकी परीपुष्टि ब्रह्मसूत्र में मिलती है। ब्रह्म सूत्र में कहा गया है कि प्राणी मात्र को श्रुति वचनों से आत्म तत्व के विषय में मनोयोग पूर्वक श्रवण करना चाहिए। दर्शन शास्त्रों के अनुसार युक्ति पूर्वक चिंतन करना चाहिए तथा चिंतन द्वारा समुपलब्ध आत्म स्वरूप विषय का समाधि ज्ञान द्वारा आत्म तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए-

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।[2]

यही ज्ञान की परम सीमा है। जिसके लिए शास्त्रज्ञ उन्हें स्वाध्याय और प्रवचन का उपदेश दिया है-

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च।सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

*सहायक आचार्या, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।[3]

स्वाध्याय तथा प्रवचन शिक्षणाभ्यास के दो साधन माने गए हैं। जिनके द्वारा संपूर्ण ज्ञानात्मक प्रक्रिया को ऋषि-मुनियों ने चार कालों में विभक्त किया है। आगम काल, स्वाध्याय काल, प्रवचन काल और व्यवहार काल। ज्ञान ग्रहण अवस्था का समय कहलाता है आगम काल तथा स्वाध्याय से तात्पर्य वर्ण राशि रूप में वेद का विधिवत् अर्थबोध ग्रहण करना है। आगम और स्वाध्याय काल में उपनीत बालक गुरु अनुकंपा से वेद उच्चारण की शैली से परिचित होने के साथ-साथ वेदार्थ का अनुशीलन करते हुए स्व तत्त्व की जागृति द्वारा अपने आप को उसके अनुरूप बनाने का निरंतर प्रयास भी करता है। आगम और स्वाध्याय काल दोनों में एकरसता देखने को मिलती है; जिसके अंतर्गत वेद का अध्ययन करने वाला गुरु मुख से सुने हुए मंत्र के अर्थ ज्ञान के साथ उसी रूप में स्वर और लय के साथ उच्चारण पूर्वक अपने किए हुए अध्ययन को और विस्तारित करता है। किंतु स्वाध्याय की सार्थकता प्रवचन पर आधारित है, जिसके लिए प्रवचन काल और व्यवहार काल की अनिवार्यता पर विशेष जोर दिया जाता है। प्रवचन काल के अंतर्गत स्वाध्यायी आचार्य द्वारा प्राप्त ज्ञान को शिष्य-प्रशिष्य तक पहुंचाने का कार्य करता है। जिससे ज्ञानार्जन की सार्थकता और निरंतरता सदैव बनी रहती है। व्यवहार काल अंतिम काल है। इस काल में जिज्ञासु समुदाय को ज्ञानार्पण की विधि द्वारा तत्वान्वेषी बनाया जाता है जिसके लिए प्रवचन और व्यवहार काल को एक ही समय में संपन्न किया जाता है।[4] बृहदारण्यक उपनिषद में भी कहा गया है- **आत्मनो वा अरे दर्शनेन मत्या विज्ञाननेदं सर्वं विदितम्।**[5]

शिक्षणाभ्यास के प्रमुख अंग है श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इन सब को स्वाध्याय और प्रवचन प्रक्रिया द्वारा अध्येता में विकसित किया जा सकता है। विकास की इस प्रक्रिया में इन दोनों का महत्व समान रूप से है कोई कम या ज्यादा नही है। एक को अनदेखा करने से दूसरे की सार्थकता संदिग्ध बन जाती है। जैसा कि डॉ. भास्कर मिश्रा ने अपनी पुस्तक 'वैदिक शिक्षा पद्धति' में लिखा है कि केवल स्वाध्याय जो कण्ठस्थीकरण अर्थात् आत्मानुशीलन की शिक्षण प्रक्रिया पर आधारित है, से अधिगम का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो पाता उसके लिए अध्येता को विषय वस्तु के अर्थबोध हेतु भी उद्यत होना पड़ता है तथा प्राप्त ज्ञान के आधार पर जन समुदाय में सामाजिक चेतना को जागृत करने के लिए क्रिया पक्ष के रूप में प्रवचन की विधि को अपनाना पड़ता है। तब कहीं जाकर अधिगम के उद्देश्य की प्राप्ति होती है। जिसके लिए मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सृष्टि के प्रारम्भ से ही स्वाध्याय और प्रवचन की अनिवार्यता पर बल दिया है।[6] व्यवहारिक पक्ष में भी यदि देखा जाए तो महर्षि का यह चिंतन सारगर्भित प्रतीत होता है, जिसमें इन भावों को प्रधानता दी गई है की बालक के अंतर्निहित संवेगों की अभिव्यक्ति केवल मात्र प्रवचन की प्रणाली द्वारा ही संभव हो सकती है-

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः, शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं

वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ।।[7]

स्वाध्याय और प्रवचन नामक शिक्षणाभ्यास की इस प्रणाली में गुरु का सान्निध्य महत्वपूर्ण माना गया है। बिना गुरु के सानिध्य के छात्र के संशयात्मक वृत्ति का विनाश संभव नहीं है। जैसा कि प्रश्नोपनिषद् द्वारा ज्ञात होता है कि शिष्य (जिज्ञासु) परब्रह्मतत्व स्वरूप परमात्मा के विषय में अपनी जिज्ञासा के समाधान हेतु महर्षि पिप्पलाद को सान्निध्य प्रदान करने की विनती करते हैं-

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्षाम इति।।[8]

तथा विनीत छात्रों को अपना सानिध्य प्रदान कर उनकी ब्रह्म ज्ञान विषयक जो जिज्ञासा होती है उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वान्वेषी की सहायता करने में गुरु का विशेष महत्व है जिसे दूरस्थ शिक्षा प्रणाली में भी महत्ता प्रदान की गई है। इस विषय से संबंधित हिंदी साहित्य में उक्ति है, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। कहा गया है -

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय।।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु और भगवान दोनों ही मेरे सम्मुख खड़े हैं, परंतु गुरु ज्यादा श्रेयस्कर क्योंकि गुरु ने ही ईश्वर को जानने का मार्ग दिखाया है। गुरु अपने अलौकिक तेज से अपने समीप शिक्षा ग्रहण करने आए हुए जिज्ञासु बालक के अंतः करण में विद्यमान संताप का हरण कर सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है। जिससे वह जिज्ञासु बालक आत्मनिर्भरता को प्राप्त हो सके, अपने आश्रितों का भरण पोषण तथा जिस समुदाय का वह अभिन्न अंग है उस समुदाय के कल्याण में प्रयत्नशील रहता हुआ आत्मा अभ्युदय को प्राप्त कर सकें। इसीलिए अनादि काल से ही गुरु के महिमामंडित स्वरूप को पूर्वाचार्य ने ब्रह्मा विष्णु और महेश के नाम से अलंकृत किया है-

गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुःगुरुर्देवोमहेश्वरः।
गुरुरेव परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

वेदाध्ययन के लिए गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण परम्परा की विधि का उल्लेख ऋग्वेद प्रातिशाख्य में मिलता है जिसमें आचार्य शौनक ने वर्ण-पद-संधि-स्वर-छन्द और क्रम पाठ से सम्बन्धित सिद्धान्तों को विवेचित करने के साथ-साथ अध्यापन के व्यवहारिक पक्ष को वेदरूप अपौरुषेय शब्दावली को संरक्षित करने की विधा के रूप में निरूपित किया है।

वेदाध्ययन का अधिकारी कौन होगा इस विषय में आचार्य शौनक ने कहा है कि पात्रता-अपात्रता का ध्यान किए बिना किसी भी व्यक्ति को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं देना चाहिए या नहीं दिया जाना चाहिए और न ही कोई सामान्य व्यक्ति वेद का अध्यापक बन सकता है। इसके लिए आचार्य को यह अधिकार दिया गया है कि अध्ययन के प्रति इच्छुक बालक को अन्तेवासी के रूप में प्रतिष्ठित करने से पूर्व इस सम्बन्ध में उसकी पात्रता का मूल्यांकन अवश्य कर लेना चाहिए, जिससे ऐसा न हो कि अनधिकारी को वेदाध्ययन के लिए प्रवेश

मिल जाए। इस सम्बन्ध में आचार्य शौनक ने शिष्य की पात्रता के विषय में स्पष्ट निर्देश दिए हैं। ऋग्वेद में वेदाध्ययन की पात्रता रखने वाले वेदाध्यायी के लिए शिक्षमाणं शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य शौनक ने स्पष्ट तो कुछ उल्लेख नहीं किया है परंतु इतना अवश्य निर्दिष्ट किया है कि गुरु उन्हीं बालकों को अंतेवासी के रूप में अपना सानिध्य प्रदान कर वेद की विभिन्न शाखाओं का पाठ पढ़ाएं, जिनके मन में गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा और तपश्चर्या व्रत को धारण करने की क्षमता विद्यमान हो।[10] वस्तुतः वही व्यक्ति वेदा अध्ययन का अधिकारी है जिसमें गुरु के प्रति पूर्ण आस्था तथा धर्मशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट मर्यादाओं के अनुपालन का भाव हो। ऋग्वेद के एक मंत्र में एक ऐसे ब्रह्मचारी का उल्लेख किया गया जो विद्या ग्रहण करने के लिए सर्वत्र ब्रह्मज्ञानियों के पास जाता हुआ देवताओं का अंग बनता है।[11] निरुक्तकार यास्क ने विद्यासूक्त में विद्यार्थी के स्वरूप और उसकी पात्रता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि जो शिष्य विद्या को घृणा की दृष्टि से देखता है अर्थात प्राप्त ज्ञान का उपहास करते हुए उसका प्रयोग विध्वंसकारी प्रवृत्तियों के विकास के लिए करता है तथा कुटिल और असंयमी है अर्थात धर्मशास्त्र प्रतिपादित आचार संहिता के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत नहीं करता, ऐसे शिष्य को विद्यादान नहीं करना चाहिए-

असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।.....
यमेवविद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नाम्।
यस्ते न द्रुह्यत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।[12]

मुण्डकोपनिषद् में विद्या ग्रहण की योग्यता को निर्धारित करते हुए महर्षि ने कहा है कि शरण में आए हुए वेदाध्ययन के इच्छुक ऐसे बालकों को जो पूर्णतः शांत और निश्छल हो सांसारिक भोगों से सर्वथा वैराग्य हो जाने के कारण जिनके चित्त में किसी भी प्रकार की चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों, जिसने अपने मन बुद्धि और समस्त इंद्रियों को भली-भांति वशीभूत कर लिया हो को विद्या दान करने में आपत्ति नहीं करनी चाहिए-

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यकप्रशान्तचित्ताय शमन्विताय।
येनाक्षरं पुरुष वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्। [13]

वेदाध्ययन की प्रक्रिया में अर्थबोध से कहीं अधिक आवश्यकता उच्चारण गत दोष के परिहार की है, जिससे त्वष्टा की बाधा[14] की पुनरावृत्ति न हो पाए, जैसा कि "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" का उच्चारण अंतोदात्त की अपेक्षा आद्युदात्त स्वर में हो गया, जिसके फलस्वरूप वृत्रासुर का विनाश और इंद्र की वृद्धि हुई-

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तदर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।। [15]

इस प्रकार उच्चारण का बहुत महत्व है इस में अशुद्धि होने से अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। इससे बचने के लिए शिक्षाशास्त्रज्ञों ने वर्णोच्चारण की विधा को स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया। साथ ही साथ **"उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति"** के द्वारा यह निर्देश दिया कि गुरु उदात्त के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले शिष्य के मुंह पर चपेटा मारकर

उसके उच्चारण में संशोधन कराएं।

सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में ₹स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा₹ के द्वारा उपदेश दिया है। जिसमें गुरु मुख से उच्चारित शब्दों के अनुच्चारण का विधान है, जिसके कारण वेद को अनुश्रव नाम में इंगित किया गया है। वेदाध्ययन की उच्चारण विधा के संबंध में पूर्व मीमांसा आचार्यों ने एकमत से यह निर्णय दिया है कि गुरु के मुख से उच्चारित वेदराशि को उसी रीति (वर्ण तथा उदात्तादि स्वर के अनुकरण) से उच्चारण करने को अध्ययन कहते हैं। इस अध्ययन परम्परा में श्रवण और उच्चारण की मुख्यता होने के कारण वेद के लिए श्रुति शब्द भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्रुति परम्परा के अन्तर्गत शिष्य की क्षमता के अनुसार गुरु मन्त्रांश यह पूरे मन्त्र का उच्चारण करता है तदनन्तर गुरु के उच्चारण का पूर्ण अनुकरण करता हुआ शिष्य उस मन्त्रांश या मन्त्र का उच्चारण करता है।

सन्दर्भ -

1. वैदिक शिक्षा पद्धति
2. ब्रह्मसूत्र 1/1/23
3. तैत्तिरीयोपनिषद्
4. वैदिक शिक्षा पद्धति (डा. भास्कर मिश्र)
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5
6. वैदिक शिक्षा पद्धति (डा. भास्कर मिश्र)
7. प्रश्नोपनिषद् 1/1
8. प्रश्नोपनिषद् 1/2
9. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। ऋग्वेद 7/103/5
10. गुरुः शिष्येभ्यस्तदनुव्रतेभ्यः । ऋग्वेद प्रातिशाख्य
11. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्। ऋग्वेद 10/109/5
12. निरुक्त 2/1/4
13. मुण्डकोपनिषद् 1/2/3
14. पाणिनीय शिक्षा 6/1/223,6/2/1
15. पाणिनीय शिक्षा 52
16. पतञ्जलि महाभाष्य 1/1/1
17. ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ. 49
18. गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमध्ययनम्। गुरुक्तं श्रुणुयान्मन्त्रं तूष्णीं पश्चादनुच्चरेत्।। सम्प्रदायप्रबोधिनी शिक्षा-18
19. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः। मनुस्मृति 2/10

वेदों में पारिस्थितिकी संरक्षणोपाय

· डॉ. पूजा जायसवाल*

शोधसार –

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण को विशेष महत्त्व दिया गया है। प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के अनेक संघटकों जैसे वृक्षों को पूज्य मान कर उनकी पूजा की जाती है। पीपल के वृक्ष को पवित्र माना जाता है। जल, वायु, अग्नि को भी देव मानकर उनकी पूजा की जाती है। समुद्र नदी को भी पूजन योग्य माना गया है। गंगा, सिन्धु, सरस्वती, यमुना, गोदावरी, नर्मदा जैसी नदियों को पवित्र मानकर पूजा की जाती है। धरती को भी माता कहा गया है। प्राचीन काल से ही भारत में पर्यावरण के विभिन्न घटकों की पूजा होती है। आर्ष वैदिक परम्परा पर्यावरण के प्रति अत्यन्त जागरूक रही है ताकि मानव दीर्घायु, यश, स्वास्थ्य को प्राप्त कर सके। अथर्ववेद में ऋषि कामना करते हैं कि ''आयुः प्राणं प्रजां पशुः''[1] ऋग्वेद में भी यही चिंतन दृष्टिगोचर होता है 'शतां जीवतु शरदः'[2] इतना ही नहीं वह ऋषि आशीर्वाद प्राप्त करता है कि न केवल सौ वर्ष तक जिएँ, प्रत्युत आरोग्यता और बल के साथ जिएँ। हम सौ वर्ष पर्यन्त ज्ञान शक्ति का विकास करें, सौ वर्ष तक जीवन को ज्ञान के अनुकूल विकसित करें, सौ वर्ष तक वेद को सुनें और प्रवचन करें और आयु भर किसी के पराधीन न रहें।

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्।।[3]

बीजशब्द – पर्यावरण, संस्कृति, देवता, वनस्पतियाँ, ऋषि, संवर्धन, पोषण, संरक्षण, प्रदूषण, अन्योन्याश्रित, संतुलन, पराकाष्ठा, तृष्णा।

प्रकृति के पाँच तत्त्व जल, अग्नि, आकाश एवं पृथ्वी पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं जिनका आपस में गहरा सम्बन्ध है। इन पाँच तत्त्वों में किसी एक का भी असंतुलन पर्यावरण के लिए अपूरणीय क्षतिकारक और विनाशकारी है। पर्यावरण के जैविक संघटकों में सूक्ष्म जीवाणुओं से लेकर कीड़े-मकोड़े सभी जीव जन्तु और पेड़-पौधे आ जाते हैं और इसके साथ ही उनसे जुड़ी सारी जैविक क्रियाएं और प्रक्रियाएँ भी। अजैविक संघटकों में जीवन रहित तत्त्व और उनसे जुड़ी प्रक्रियाएँ आती हैं जैसे चट्टानें, पर्वत, नदी, हवा और जलवायु के तत्त्व इत्यादि।

*सहायक अध्यापिका, संविलयित विद्यालय, अतरौलिया, आजमगढ़

''पर्यावरण अपनी सम्पूर्णता में एक इकाई है जिसमें अजैविक और जैविक संघटक आपस में विभिन्न अन्तर क्रियाओं के द्वारा सम्बन्ध और अन्तर गुम्फित होते हैं। इसकी यह विशेषता है कि इसे एक परितन्त्र का रूप प्रदान करती है, क्योंकि पारिस्थितिक तन्त्र या पारितन्त्र पृथ्वी के किस क्षेत्र में समस्त जैविक और अजैविक तत्त्वों के अन्तर्सम्बन्धित समुच्चय को कहते हैं। अतः पर्यावरण भी एक परितन्त्र है।''

-रविन्द्र सिंह, जैव भूगोल प्रयाग पुस्तक भवन।

प्रकृति के प्रत्येक घटक में शांति की कामना तत्कालीन ऋषियों की सामाजिक एवं पर्यावरणीय सद्भावना का द्योतक है। जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक कालीन ऋषि पर्यावरण के प्रत्येक रूप की सुरक्षा, संरक्षा तथा संतुलन के प्रति कितने सजग थे-

द्यौ शान्तिरंतरिक्षः शान्ति पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवः शान्तिब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्ति
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।[4]

ऋषि कहते हैं संपूर्ण जैव मण्डल का नियमन और सम्मान ही इसका संरक्षण और सुरक्षा है- **न यद्यामाय वो गिरिर्नि सिन्धवो विद्यर्मणे महे शुष्माय येमिरे।**[5] यजुर्वेद में ऋषि निर्देशित करते हैं कि **यस्या हृदयं परमे व्योमन्।**[6] अर्थात् जिस प्रकार हृदय की धड़कन पर प्राणी का जीवन निर्भर है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष (परम व्योम) की सुरक्षा में ही पृथ्वी और पर्यावरण की सुरक्षा है।

पर्यावरण को संतुलित रखने के लिए जिन देवताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है उनमें- सूर्य, वायु, वरुण, जल एवं अग्नि देवताओं से रक्षा की कामना की गई है।

शं नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीमिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः।।[7]

पर्यावरण को सुरक्षित रखने की उदात्त भावनाएँ हमें अनेक स्थलों पर देखने को मिलती हैं यथा-

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना।।[8]

तथा-

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः।।[9]

तथा-

स्वस्ति मित्रा वरुणा.....।[10]

इसी प्रकार-

'स्वस्ति नो दिवो अग्ने पृथिव्या विश्वायुद्येर्हि यजयाय देव।[11]

ज्योतिर्मय अग्नि हम लोगों के लिए सुखकर हो, शीघ्र चलने वाली वायु हम लोगों के लिए सब ओर से सुख रूप होकर बहे।

शं नो अग्निव्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः।।[12]

वह आकाश में बहुत से पदार्थ रखे जाते हैं, हमारे लिए सुख करने वाला हो यथा-

शं नो अगः शमु नः शमो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु।।[13]

पवन हमारे लिए सुखकारी चले बिजली और गरज के साथ शब्द करते हुए पर्जन्य (मेघ) देव की वर्षा कल्याणकारी हो, सूर्य हमारे लिए सुखकारी तपे।

शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु।।[14]

इसी तारतम्य में वैदिक ऋषियों ने पर्वतों, वृक्षों, वनस्पतियों एवं पशुओं को प्रजाजनों के लिए सुखस्वरूप होने की कामना की है। हमारी शांति के लिए पर्वत निश्चल हों।[15] वनों के वृक्ष हमारे लिए सुखरूप हों।[16] घोड़े और गाय हमारे लिए सुखरूप हों।[17]

पशु-पक्षियों आदि को देवताओं के साथ जोड़कर जैव-विविधता को अनायास संरक्षित तथा संवर्धित करना वैदिक परम्परा का अभिन्न अंग था। वृक्ष के किसी अंग का उपयोग करने में पूर्व उसके समक्ष श्रद्धावनत होकर कुछ प्रार्थना एवं याचना का भाव वैदिक परम्परा में ही मिलता है। यजुर्वेद में प्रार्थना करते हुए ऋषि ने अनायास ही एक संतुलित पर्यावरण की संकल्पना प्रस्तुत कर दी है-

मधु वाताऽऋतायते मधु सरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधिः।।[18]

रात मधुर हो प्रभात भी। पृथ्वी, द्यौ, वनस्पतियाँ सूर्य और गौवें मधुर हों-

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ २।। ऽअस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।। [19]

ऐसी ही भावाभिलाषा अथर्वेद में भी प्राप्त होती है। हमें अन्तरिक्ष अभय करें, द्यावा, पृथ्वी, नीचे-ऊपर, आगे-पीछे, मित्र-शत्रु, ज्ञात-अज्ञात, रात-दिन और समस्त दिशाओं से अभय की प्राप्ति हो।

''अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।।
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।''[20]

जल भी पृथिवी एवं वनस्पतियों के समान एक महत्त्वपूर्ण पर्यावरणीय घटक है। जल के बिना जीवन अकल्पनीय है। जल सृष्टि निर्माणक तत्वों में मूल तत्त्व है जिससे समस्त सृष्टि का संवर्धन, पोषण एवं संरक्षण होता है। अथर्ववेद में जलस्रोतों की शुद्धि के संदर्भ में कहा गया है कि कुएँ आदि जल स्रोतों को गन्दा न करें। इस संदेश के साथ राजा को यथावत् प्रबन्ध करने के लिए कहा गया है-

''मा विर्भेन मरिष्यसि जदरष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव।।''[21]

ऋग्वेद में जल की महिमा का गुणगान करते हुए कहा गया है- जल उत्कृष्ट माता है, क्योंकि इससे पर्यावरण का निर्माण ही नहीं अपितु पालन भी होता है।

'अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः।।' [22]

जल अमृतमय है, जल महा औषधि है-

'अप्स्व १न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुपत प्रशस्तये।' [23]

वैदिक ऋचाएँ जल को दुरित निवारक एवं पापं शोधक कहकर जल के पर्यावरणीय महत्त्व का गुणगान करती हैं-

''इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतावृतम्।।''[24]

ऋग्वेद के दशम् मण्डल में भी जल के गुणों का प्रतिपादन मिलता है-

''तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः।।''[25]

अथर्ववेद के भूमि सूक्त में जल से प्रार्थना की गई है कि यह हमारे शरीर को सदा पवित्र बनाए रखे-

'शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु' [26]

ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि नदी, समुद्र और जल हमारे लिए सुखप्रद हों-

'शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः।।' [27]

यजुर्वेद में याचना की गई है कि पीने काजल और वर्षा का जल हमारे लिए कल्याणकारी हो-

''शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः।। [28]

वन किसी भी राष्ट्र की मूल्यवान सम्पत्ति हैं। पर्यावरण के संरक्षक हैं, क्योंकि वनों से कच्चे पदार्थ लकड़ियाँ सूक्ष्मजीवों के लिए आवास, मृदा अपरदन से बचाव, भूमि जल में वृद्धि होने के साथ ही साथ जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्राणवायु भी प्राप्त होती है। वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण के अभिन्न अंग वन, वृक्षों एवं वनस्पतियों की स्तुति अनेकशः की गई है। ऋग्वेद का औषधि सूक्त (1/187 तथा 10/97) तो ऐसे ही मन्त्रों से युक्त है वैदिक ऋषि वनस्पतियों के पर्यावरण शोधन के गुणों से भली-भाँति परिचित थे-

''अदृष्टान्हन्त्यायत्यथो हन्ति परायती। अथो अवघ्रती हन्त्यथो पिनष्टि पिंषती।।''[29]

वनस्पतियों के प्रभाव व गुणों का बखान करते हुए वैदिक ऋषि कहते हैं कि जहाँ भी प्रदूषण होता है वह उसे बाहर निकाल देती हैं।

''उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः।।''[30]

हमारे चिंतनशील मनीषियों ने वृक्षों एवं वनों की रक्षा करने वालों का विशेष सम्मान करने तथा उन्हें सतत् अन्न, धन देने का संदेश दिया है। इसीलिए अथर्ववेद के भूमि सूक्त में ऋषि ने भूमि से भी कहा है कि

तुम्हारे जङ्गल हमारे लिए सुखदायी हों।

भूमिष्टद्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपत्र्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्।।[31]

पृथ्वी के अत्यधिक महत्व का प्रतिपादन आधुनिक पर्यावरणविदों ने किया है भूमि अथवा मृदा सर्वाधिक महत्वपूर्ण पर्यावरणीय घटक हैं। वेदों में धरती को माता कहकर आदर दिया गया है।

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तु वः।
नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राऽयम्तासि यमनो ध्रुवोऽसि
धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषणाय त्वा।।''[32]

यजुर्वेद में भूमि संरक्षण सम्बन्धी विचार उपलब्ध हैं यहाँ कामना करते हुए संदेश दिया गया है कि भूमि को अपने दुष्कर्मों से न बिगाड़ें, उस को प्रदूषित करना उसके प्रति हिंसा है। भूमि की हिंसा हम और हमारी भूमि न करें।

''अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे।
स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा। पृथिवी मातर्मा मा हिंसीर्मोऽअहं त्वाम।।''[33]

अथर्ववेद में ऋषि कहते हैं कि सब का पालन करने वाली भूमि की उपजाऊ शक्ति को नष्ट ना होने दें। हे भूमि! हम तेरी खुदाई करें, वह शीघ्र भर जाए, हम तेरी हिंसा ना करें।

''यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरध्याशेमहे।
या हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि।।
यत्ते भूमि विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
म ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।'' [34]

भूमि सूक्त के ऋषि हमें बताते हैं कि निवास योग्य तथा विभिन्न कार्यों के प्रयोग होने वाली भूमि का संरक्षण करने से वह सुखद होती है। हे भूमि! तुम्हारी पहाड़ियाँ, हिमाच्छादित पर्वत, वन, पुष्टि देने वाली भूरे रंग की मिट्टी, कृषि योग्य काली मिट्टी, उपजाऊ लाल मिट्टी, अनेक रूपों वाली, सबका आश्रयस्थान, स्थिर भूमि पर अजेय, अवध्य और अक्षत रहकर हम निवास करें।

''बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।।'' [35]

भूमि सूक्त के ऋषि प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि यज्ञ भूमि में देवताओं के लिए हम अलंकृत हव्य प्रदान करें। उसी भूमि में मरणशील मनुष्य स्वधा और अन्न से जीवन धारण करते हैं। वह भूमि हमें वृद्धावस्था तक प्राण प्रद वायु प्रदान करें। पृथ्वी की गोद हमारे लिए निरोग और रोग रहित हो। दीर्घकाल तक जागते हुए हम अपने जीवन को इसकी सेवा में लगायें।

''उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।।'' [36]

वेदों में मनुष्य को समृद्ध बनाने वाली उर्वरा भूमि के लिए कृष्को एवं वैज्ञानिकों को प्रेरणा दी गई है कि उसकी उर्वरा शक्ति बनाए रखने के लिए पर्यावरण प्रदूषित करने वाले खाद के स्थान पर गोबर खाद प्रयुक्त खेती को ही उत्तम फलवती मानकर, मधुर अन्न उत्पन्न करने वाले खाद के स्थान पर उन्नत करें। बार-बार बुआई से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होने की ओर संकेत किया गया है कि सब कुछ देने वाली जिस विस्तृत भूमि की जागरूक विविध व्यवहारों में कुशल विद्वान् प्रजाजन प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं, उस भूमि को हम प्रिय मधु दिया करें तथा हम उसके तेज को बढ़ायें।[37] जल, भूमि, वनस्पति, जीव-जन्तु तथा प्रकृति सभी एक दूसरे के अन्योन्याश्रित एवं हितसाधक हैं, मनुष्य के शुभैषी हैं अतः मनुष्य का नैतिक धर्म है कि वह एक पर्यावरणीय पदार्थों का आवश्यकतानुसार उपयोग करने के साथ ही इनके संरक्षण में भी निरत रहे। वैदिक संस्कृति में प्रकृति प्रेम और उसका संरक्षण एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। भूमि को प्रदूषण से बचाने के लिए हरियाली के प्रयोग की ओर संकेत किया गया है। नदियाँ प्रदूषण रहित हो, ऐसी उदात्त कामना की गई है। जल और वायु की शुद्धि के लिए वनौषधि और यज्ञ को उपयुक्त माना गया है। आकाशीय शब्द की तीव्रता और मन्दता का प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है। संतुलित प्रयोग एवं मौन साधना तथा वाणी के संयम से किसी भी प्रकार की तीव्र ध्वनि का विस्तार रोका जाना चाहिए।

वैदिक ऋषियों ने परिस्थितिकालीन विश्लेषण की पराकाष्ठा को प्राप्त कर पर्यावरण संरक्षण के लिए अनेक सरल तथा सामाजिक आचार-व्यवहार के लिए हितकारी नियमों का प्रतिपादन किया था, जिनका उद्देश्य था कि समाज का प्रत्येक सदस्य अपने दैनन्दिन कर्म के संपादन के साथ ही इस महत्त्वपूर्ण संरक्षण क्रिया में जाने-अनजाने अपना योगदान करता रहे।

ज्ञानालोक से आलोकित वैदिक ऋषि अद्वितीय वैज्ञानिक, अनुसंधानकर्ता, मानवता के शुभैषी तथा दूरदृष्टा थे। वे प्रकृति द्वारा स्थापित कोई भी वस्तु अथवा विधान निरर्थक नहीं है इस सत्य से न केवल भली-भाँति परिचित है अपितु पूर्णरूपेण उसकी अनुज्ञा में चलने वाले थे। ऋग्वेद में ऋषि इसी प्रकार की चिंता करते हुए कहते हैं कि पर्यावरण को जब मनुष्य अपनी भोगतृष्णा से दूषित करता है तब यह प्रकृति उसके सिर को झुका देती है। ऐसे विनाश की ओर जाने वाले विश्व के लिए यह प्रकृति सुज्ञेय एवं सुखकारी नहीं होती।

प्रिया तष्टानि मे कपिव्यक्ता व्यदूदुषत्।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।''[38]

प्रकृति पर विजय प्राप्त करने अथवा उसके निर्मम दोहन का भाव वैदिक परम्परा की चिंतनशील एवं संवेदनशील धारा को शुरू से ही अस्वीकार्य रहा है। गीता में इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख है कि जब कोई व्यक्ति किसी से कुछ प्राप्त करता है किन्तु उसे किसी रूप में लौटाने का उत्तरदायित्व पूरा नहीं करता तो वह चोर सदृश हो जाता है-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दासयंत यज्ञभाविताः। तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।[39]

वस्तुतः वैदिक विषयों का चिन्तन पर्यावरण के प्रत्येक घटक के साथ मैत्री भावना से युक्त था।

इसीलिए उन्होंने मैत्री भावना की ही कल्पना नहीं की वरन् मनुष्य की प्रकृति के प्रति तथा प्रकृति मनुष्य के प्रति मैत्री भावना को व्यवहारिक धरातल पर कृतार्थ किया-

''मित्रस्यना चक्षुषा सर्वाणि भूतानिसमीक्षंताम।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।''[40]

अर्थात् सब जीव मेरी ओर मित्रता की दृष्टि से देखें। मैं सब की ओर मित्रता की दृष्टि से देखूँ। सब एक दूसरे की ओर मित्रता की दृष्टि से देखें। निष्कर्षतः क्रियात्मक अध्यात्म का परिपालन, विरासत की सुरक्षा और तृष्णा पर अंकुश लगाकर ही पर्यावरण को बचाया जा सकता है। आज आवश्यकता है प्रदूषणरहित तकनीकि की। विवादहीन प्रगति ही सही विकास है। आज पूरा विश्व पर्यावरण पर चिंतन कर रहा है, हम आशा करते हैं कि आने वाली सदी प्रदूषण रहित पर्यावरण की सदी होगी।

सन्दर्भ -

1. अथर्ववेद 19/71/1
2. ऋग्वेद 10/18/4
3. ऋग्वेद 7/66/16
4. शुक्ल यजुर्वेद 36/17
5. ऋग्वेद 8/7/5
6. यजुर्वेद 12/8
7. ऋग्वेद 7/35/11
8. वही 5/51/11
9. ऋग्वेद 5/51/13
10. वही 5/51/14
11. वही 10/7/1
12. वही 7/35/14
13. वही 7/35/2
14. यजुर्वेद 36/10
15. ऋग्वेद 7/35/3, 8
16. वही 7/35/15
17. वही 7/35/12
18. यजुर्वेद 13/27
19. वही 13/29
20. अथर्ववेद 19/15/5-6
21. वही 5/31/8
22. ऋग्वेद 1/23/16
23. वही 1/23/19
24. वही 1/23/22
25. वही 10/9/3
26. अथर्ववेद भूमिसूक्त
27. ऋग्वेद 7/35/8
28. यजुर्वेद 36/12
29. ऋग्वेद 1/191/2
30. अथर्ववेद 8/7/10
31. वही 5/28/5
32. यजुर्वेद 9/22
33. यजुर्वेद 10/23
34. अथर्ववेद 12/1/34-35
35. वही 12/1/11
36. वही 12/1/62
37. अथर्ववेद 19/31/2 तथा 12/17
38. ऋग्वेद 10/86/5
39. श्रीमद्भग्वद्गीता 3/12
40. यजुर्वेद 36/18

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित रसविरुद्धत्व

· सोनाली बाजपेई*

शोधसार –

काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित रस का आस्वादन कुछ विरले सहृदय सामाजिक ही किया करते है, यह रसास्वादन उन्हे तभी हो पाता है जब उनके हृदय में काव्यपरिशीलन से सत्व का उद्रेक हो जाये, इसे यदि किसी भी अन्य अनुभव के समान बताया जा सके तो वह अनुभव एकमात्र आत्मसाक्षात्कार ही हो सकता है अन्य नही । परन्तु कवि को काव्य सृजन की प्रक्रिया में रस के साथ ही उसको क्षीण करने वाले तत्वों का ज्ञान होना भी आवश्यक है । प्रस्तुत शोध पत्र में काव्य की शोभा को न्यून करने वाले इन्ही रस विरोधी तत्वों का विवेचन किया गया है ।]

बीजशब्द – रस, ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण, रसार्णव सुधाकर, अलौकिक, विरोध, महाकाव्य कवि ।

संस्कृत वाङ्मय रूपी अगाध समुद्र में, काव्य रसमयी मन्दाकिनी सहृदय सामाजिक को अलौकिक रसपान रूपी अमृतत्व की अनुभूति कराते हुये प्रवेश करती है, सहस्र वर्षो से प्रवाहित यह रसमयी धारा निरन्तर विस्तृत्व तथा सुबोधत्व को प्राप्त कर, काव्यरसिक मण्डली को आह्लादकत्व प्रदान करती जाती है । काव्य प्रयोजन गणना में रसस्वाद प्रमुख प्रयोजन बताया गया है, आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार रस अलौकिक है, क्योंकि वह लौकिक परिस्थितियों में बद्ध नही होता है । लोक में प्रायः दो प्रकार के कारण होते है - कारक तथा ज्ञापक, तथा दो कार्य भी होते हैं कार्य तथा ज्ञाप्य । रस ना कार्य होता है न ही ज्ञाप्य , बल्कि इन दोनो से विलक्षण अलौकिक अनुभूति है । काव्यशास्त्र के आदि विवेचन से ही रस की सर्वोच्चता सिद्ध की गई है -

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्य ज्योतिरीश्वरम् ।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्कार-रसाह्वयः ।।[1]

इसी सर्वोत्तमता का प्रतिपादन भरतमुनि नाट्यशास्त्र में करते है तथा रस के विना किसी भी प्रकार की अर्थगम्यता का निषेध करते है –

*शोधच्छात्रा, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।[2]

इसके अतिरिक्त परवर्ती सभी काव्यशास्त्रियों ने रस के महत्व का विवेचन किया है, रस का स्वरूप विशुद्ध सात्विक है, यह काव्य में चारुत्वता का नियामक है। शब्दों की रसाभिव्यक्ति का स्वाभाविक सामर्थ्य ही शब्दों के चारुत्वद्योतन की विशेषता है । संस्कृत वाङ्मय में आचार्य भरतमुनि ने रसोत्पत्ति विषयक सूत्र का प्रणयन किया है -

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः।[3]

जिसकी विस्तृत व्याख्या परवर्ती आचार्यों द्वारा की गई है, जिसमें भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद प्रमुख है। संस्कृत वाङ्मय में आठ रस प्राप्त होते है –

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता ।।[4]

इसके अतिरिक्त शान्तरस को काव्य में प्रयुक्त नवम् रस की संज्ञा ही गई है। परन्तु नाट्य में यह संख्या अष्ट ही है - निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमों रसः।[5]

रसानुभव एक लोकविलक्षण अनुभव है जिसे न तो प्रत्यक्ष कह सकते है न अनुमान, न तो प्रातिम ज्ञान मान सकते है और न योगज साक्षात्कार। रसानुभव के साधन अलौकिक है,इसलिये रसानुभव की अलौकिकता भी स्वयं सिद्ध है। रस का आस्वाद कैसे हुआ करता है, इसकी व्याख्या में आचार्य विश्वनाथ ने कहा है -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाममास्ताद्यते रसः ।। [6]

रस के अनुभव का सार एक अलौकिक चमत्कार है और यह अनुभव ऐसा है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का कोई भेद उसी प्रकार नही आभासित हुआ करता जिस प्रकार आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अथवा ब्रह्मानन्द के अनुभव में। इस विवेचन के क्रम में कवि दोषविवेचन भी कर देते है, काव्य रचना के नियमों की अनदेखी द्वारा यह दोष काव्य की चारुता का हनन करते है, जिसमें इस विरोधियों का वर्णन करना प्रमुख हैं, आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रबन्ध काव्य अथवा मुक्तक काव्य में ही रसादि का निबन्धन करने वाले कवि को रसादि के विरोधियों का परिहार करने का प्रयास करना चाहिये।

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन्बद्धुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ।।[7]

परन्तु प्रश्न यह है कि यह रस विरोधी कौन हैं तथा इनका काव्य में परिहार किस प्रकार किया जाये? इसका उत्तर देते हुये आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि यह रस विरोधी पांच प्रकार के होते है -

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ।।
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ।।[8]

विरोधिरस सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण करना, रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करना, विना अवसर के ही रस को समाप्त कर देना अथवा अनुचित स्थान पर रस का प्रकाशन करना, रस का परिपोष हो जाने पर भी पुनः-पुनः उद्दीपन करना तथा व्यवहार का अनौचित्य, यह पांच रसविरोधी कहे गये है। प्रथम प्रकार के रसविरोध में रस की दृष्टि से विरोधी रस अथवा विरोधी रस के विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों का वर्णन करना आता है, यथा शान्तरस के विभावों के वर्णन करने के क्रम में ही शृङ्गार रस के विभावादि का वर्णन करना। साहित्य दर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने रसो की परस्पर विरोधता को विस्तार पूर्वक विवेचित किया है -

आघः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ।।
समानकेन करणेनापि धस्यों विरोधाक् ।
करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः ।।
रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ।
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ।।
शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः ।।
शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः ।।
शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ।[9]

परस्पर स्वभाव-विरूद्ध रसों का सहाभिव्यञ्न कुछ नियमों के अनुपालन में सम्भव है यथा- आश्रय भेद से अभिव्यञ्जन, एक रस को परतन्त्र बनाकर उसके विरोधी का वहीं अभिव्यञ्जन, एक मुख्य रस की अधीनता में दो विरूद्ध रसों का प्रकाशन, एक हीनबल और दूसरे अधिकबल वाले रस का अभिव्यञ्जन तथा अन्य रस के स्वधान से दो परस्पर विरुद्ध रसों का अभिव्यञ्जन । इसी प्रकार का विवेचन नाट्यदर्पणम् में भी प्राप्त होता है -

एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्योगे विरुद्धता ।।[10]

अर्थात, एक ही स्थान पर दो स्वतन्त्र तथा तुल्यशक्ति वाले रसों में विरोध होता है यथा - भिन्न आश्रयों में रहने वाले, स्वतन्त्र न रहने वाले, आदि । इसी प्रकार की रस विरुद्धता का वर्णन रसार्णवसुधाकर में भी प्राप्त होता है –

उभौ शृङ्गारबीभत्सावुभौ वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतावुभौ हास्यकरुणौ प्रकृतिद्विषौ ।।

स्वभाववैरिणोरङ्गाङ्गिभावेनापि मिश्रणम् ।
विवेकिभ्यो न स्वहते गन्धगन्धकयोरिव ।।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार रसों को परस्पर विरोध तीन कारणों से सम्भव होता है प्रथम आलम्बन की एकता के कारण द्वितीय आश्रय की एकता के कारण तथा तृतीय नैरन्तर्य के कारण। यह कारण प्रथम प्रकार की रसविरुद्धता के ही नियामक बनते हैं। प्रथम प्रकार में रस दृष्टि से जो विरोधी रस हैं, उनके विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों का वर्णन किया जाता है। यथा प्रियतम के प्रति प्रणय कलह के कारण नायिकाओं के कुपित होने पर कामिनियों को वैराग्य की चर्चा करके अनुनय करना -

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषम्
प्रिये शुष्यन्त्याङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुम् भवति गतकालहारिणः ।। [11]

रसविरोध के दूसरे हेतु के अन्तर्गत रसपूर्ण वर्णन करने के क्रम में उस से सम्बन्धित वस्तु का विस्तार से वर्णन करने लगना आता है, यथा किसी नायक के विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन करते समय कवि का यमकादि अलङ्कारों के निबन्धन में अभिनिवेश होने के कारण विस्तारपूर्वक पर्वतादि का वर्णन करने लगना। बृहतत्रयी इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। रसभङ्ग के तीसरे हेतु में विना अवसर के ही रस विच्छेद कर देना तथा विना अवसर के ही उसका प्रकाशन करने लगना आता है।

तात्रनवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीयसमागमया, नायिकया कयाचित्परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने। अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तविविधवीरसङ्क्षये कल्पसङ्क्षयकल्पे सङ्गामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नामकस्यानुपक्रान्तविप्रलभ्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव श्रृङ्गारकथायामवतारवर्णने।

स्वतन्त्ररूप से व्यापारान्तर के वर्णन का उदाहरण वत्सराज चरित के चतुर्थ अङ्क में रत्नावली का नाम भी नही लेकर विजय वर्मा के वृतान्त का वर्णन करने लगना आदि भी है । इसी प्रकार केवल इतिहास के वर्णन की प्रधानता हो जाने पर अङ्ग तथा अङ्गी भाव का विचार किये बिना रस तथा भाव का निबन्धन करने पर काव्यत्व की हानि अवश्य होगी । चूंकि कवि के व्यापार का मुख्य विषय रस बन्ध ही है, जब इतिहास के वर्णन की ही प्रधानता हो जायेगी तब तो जिनके अङ्गाङ्गिभाव से रहित गौण तथा प्रधान भाव का विस्तार नही किया गया है, ऐसे रसों तथा भावों का निबन्धन होगा।

रसभङ्ग के चतुर्थ हेतु के अन्तर्गत रस के परिपुष्ट हो जाने पर भी उसका पुनः उद्दीपन करना आता है, आचार्य आनन्दवर्धन इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुये कहते है-कि अपनी विभावादि सामग्री द्वारा परिपुष्ट तथा उपभुक्त रस का यदि बार-बार परामर्श किया जाता है तो वह प्रभाहीन कुसुम के समान मलिन हो जाता –

उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्री लब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते।

रसभङ्ग के पांचवें हेतु में वृत्ति अर्थात् व्यवहार के अनौचित्य का वर्णन किया गया है, यथा नायिका का बिना किसी उचित भङ्गिमा के अपने से शब्दतः नायक के प्रति सम्भोग की अभिलाषा को व्यक्त करना, अथवा भरतमुनि के ग्रन्थ में जो कैशिकी आदि वृत्तियां प्रसिद्ध है अथवा आचार्य भामह प्रणीत काव्यालङ्कर तथा उनके व्याख्याकार उद्भट के द्वारा वर्णित उपनागरिका आदि वृत्तियों के अनुचित प्रयोग से भी रसभङ्ग होता है ।

रसविरोध के पञ्च हेतुओं का विवेचन करने के पश्चात् काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने विरोधिरसाङ्गों के निबन्धन के नियम भी व्याख्यायित किये है, सर्वप्रथम यदि काव्य का विवक्षित रस परिपुष्ट हो जाये तो अगङ्गरूपता को प्राप्त होने वाले विरोधियों का वर्णन करने में दोष नहीं होता है, विरोधी रसाङ्गों के अङ्गभाव की प्राप्ति भी दो प्रकार से सम्भव है, प्रथम स्वाभाविक रूप से तथा द्वितीय आरोपित रूप से । स्वाभाविक रूप से अङ्गत्व की प्राप्ति में कोई विरोध नही है परन्तु आरोपित रूप में कवि को विशेष श्रम करता पड़ता है यथा विप्रलम्भ शृङ्गार में व्याधि इत्यादि का वर्णन तो स्वाभाविक अङ्गता को धारण करता है परन्तु मरणादि का वर्णन रसक्रम में विघ्न उत्पन्न करता है । जहां कहीं पुनः समागम की सम्भावना निकट परिलक्षित हो वहां यदि मरण का वर्णन किया जाये तो अत्यधिक विरोध प्राप्त नही होता है परन्तु दीर्घकाल के पश्चात् पुनर्मिलन सम्भव हो वहां मध्य में ही रसविच्छेद स्वभावतः हो ही जाता है । परन्तु इस समस्या का समाधान आचार्य आनन्दवर्धन स्वयं कवि के कवित्व को बताते है । इनके अनुसार यदि कवि में इस विशिष्ट भङ्गी को संघटित करने का कौशल हो तब ही मरण विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो पाता है, उदाहरणार्थ- इन्दुमती के मर जाने पर आठ वर्ष की बीमारी के पश्चात् गङ्गा तथा सरयू नदी के सङ्गम स्थल पर शरीर त्यागकर महाराज अज ने शीघ्र ही देवत्व को प्राप्त कर लिया तथा देवलोक में पहले से पहुंची हुई कान्ता इन्दुमती के साथ नन्दन वन में बने हुए लीला भवनों में रमण किया[12]। काव्य के प्रधान रस के परिपुष्ट हो जाने पर विरोधी रसों के अङ्गों का बाध्य रूप से वर्णन करने पर कोई दोष नही होता है, यथा -

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यकलम्षाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ।। [13]

प्रस्तुत श्लोक में आठ सञ्चारी भावों का वर्णन किया गया है उनमें चार शृङ्गार रस के सञ्चारी भाव है तथा चार शान्तरस के सञ्चारी भाव है, यहां शृङ्गार तथा शान्त दोनो का नैरन्तर्य है, शान्तरस, शृङ्गार रस का विरोधी है अतः विरोधी शान्त रस के अङ्गों का वर्णन शृङ्गार रस के बाध्य अङ्गरूप से किया गया है। इसीप्रकार कादम्बरी में महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक के अत्यधिक मोहित हो जाने पर दूसरे मुनिकुमार के द्वारा किये जाने वाले उपदेश के वर्णन में भी शृङ्गार के विरोधी शान्त रस के अङ्ग का वर्णन बाध्य रूप से किया गया है, उस बाध्य-विरोधी रसाङ्ग का बाध प्रधानतया वर्णित शृङ्गार रस के अङ्गों द्वारा हो जाता है। इसी प्रकार प्रमुख रस में विरोधी रसों का स्वाभाविक अङ्ग हो जाने पर भी दोष नही होता है –

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।

मरणं च जलदभुजगणं प्रसह्यं कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ।।[14]

यहां करुणरसोचित व्याधि के अनुभावों का विप्रलम्भ शृङ्गार में भी वर्णन होने के कारण यह करुण रस के अङ्ग, विप्रलम्भ श्रृङ्गार के स्वाभाविक अङ्ग बन गये है अतएव उनमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। इसी प्रकार समारोपित अङ्गता में भी विरोध नही होता है –

पाण्डुसमं वक्त्रं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ।। [15]

यहां करुणरसोचित व्याधि का वर्णन किया गया है, किन्तु श्लेष के माध्यम से उसको विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग बना दिया गया है। इसी प्रकार एक प्रधान रस के अन्तर्गत अङ्गभूत दो विरोधी रसाङ्गों का वर्णन होने पर भी रसविरोध की प्राप्ति नही होती है।[16] यहां शङ्का होती है कि वस्तु के अन्यपरक होने मात्र से किसी रसाङ्ग का स्वभाव किस प्रकार परिवर्तित हो सकता है, तब कहते है कि किन्ही दो वस्तुओं में होने वाला विरोध तथा अविरोध, सामग्री विशेष के अनुप्रवेश के कारण होता है, स्वभाव के कारण नही, प्रायः ऐसा देखा जाता है कि सामग्री विशेष के कारण शीत तथा उष्ण में भी विरोध नही रह जाता है।

ऐहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ।। [17]

प्रस्तुत श्लोक में परस्पर विरोधी अर्थों का अभिधान क्रीडाङ्ग रूप में किया गया है यथा राजा के निकट स्थित दो आततायियों का परस्पर विरोध समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार रसों की भी स्थिति प्राप्त होती है । इसीप्रकार रस विरुद्धत्व के समाधान में आचार्य आनन्दवर्धन महाकाव्यादि प्रबन्धों अथवा नाटकों में एक ही रस की प्रमुखता का समर्थन करते है -

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ।। [18]

यहां पर प्रश्न होता है कि प्रबन्ध में परिपोष प्राप्त अनेक रसों के रहने पर भी किसी एक रस का प्रधान होना कैसे विरुद्ध नही होगा, इसके समाधान में आचार्य कहते है -

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः ।
दोपहन्त्यङ्गिन्तां सोऽस्य स्थापित्वेनावभासिनः।। [19]

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रससस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति ।

जिस तरह सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्यापक रूप से पाया जाने वाला एक प्रधान कार्य (कथा) का सन्निवेश किया जाता है, उसी तरह सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्यापक रहने वाले एक रस के विधान में कोई विरोध नही है। जिस प्रकार, आधिकारिक कथावस्तु का प्रासङ्गिक वस्तुओं से सम्बन्ध अवश्य होता है, किन्तु उन प्रासङ्गिक कथाओं से सम्बन्ध होने पर भी उस आधिकारिक कथा का महत्व कम नही होता है, इसी तरह अङ्गभूत अन्यरसों के साथ प्रधानभूत किसी एक रस का अङ्गी रूप से सन्निवेश करने में कोई विरोध नही होता है, अपितु

विवेक सम्पन्न सहृदय पुरुषों को, उस प्रकार के विषय में अत्यधिक आनन्द की अनुभूति ही होती है। फिर प्रश्न होता है कि जिन रसों का परस्पर अविरोध है उनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रूप सम्भव कैसे हो सकता है, इसके समाधान में आचार्य कहते है कि दूसरे रस के अङ्गी होने पर विरोधी अथवा अविरोधी रस को परिपोष पर्यन्त नही पहुंचना चाहिये।[20]

एकन्तो रुअइ पिआ अण्णन्तो समरतूरणिग्घोसो ।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम् ।। [21]

प्रस्तुत श्लोक में वीर तथा शृङ्गार दोनो का साम्य होने पर भी विरोध नही है। इसी प्रकार रत्नावली नाटिका में ऐन्द्रजालिक के दर्शन के प्रसङ्ग में शृङ्गार तथा अद्भुत दोनों में विरोध के होने पर भी अङ्गाङ्गिभाव देखा जाता है इसी प्रकार अङ्गी रस के विरोधी रसों के परिपोष के परिहार हेतु अङ्गी रस के विरोधी रसों के व्यभिचारियों का अधिकाधिक सन्निवेश नही करना चाहिए, निवेश कर देने पर भी शीघ्र ही उन सबों को अङ्गी रस के व्यभिचारियों के रूप में परिणत कर देना चाहिये। इसी प्रकार अङ्गी रस के विरोधी रसों के विभावों तथा अनुभावों का भी उत्कर्ष नहीं करना चाहिये यदि निवेश हो गया है तो उन सबों का अङ्गिरसों के ही विभावों तथा अनुभावों के द्वारा उपबृंहण करना चाहिए। इस समाधान शृङ्खला में आचार्य एकाश्रय में विरोधी रसों का अविरोध प्रतिपादित करते हैं। यदि प्रधान रस का विरोधी रस भी निबन्धित हो तो उसे अनेकाश्रयी बना देना चाहिए, ऐसा करने से उसे इस के परिपोष मे भी कोई दोष नही होता है। प्रधान रस के विरोधी दो प्रकार के होते हैं- ऐकाधिकरण्य विरोधी तथा नैरन्तर्य विरोधी। उसमें भी प्रबन्ध में स्थायी रूप से विद्यमान अङ्गी रस की दृष्टि से जो विरुद्धैकाश्रय (ऐकाधिकरण्य) विरोधी रस होता है, उसको अनेकाश्रयी बना देना चाहिए, यथा वीर को नायकनिष्ठ तथा भयानक को प्रतिनायकनिष्ठ बना देना चाहिए क्योंकि नायक के विपक्षी प्रतिनायक में अत्यधिक भय का वर्णन करने से नायक के न्याय तथा पराक्रम आदि का बाहुल्य ही प्रकाशित होता है। इसी प्रकार नैरन्तर्य विरोध में जिन रसों के एकाश्रयरूप से वर्णन करने में कोई दोष नही होता है अपितु उनके निरन्तर (विना किसी व्यवधानक) वर्णन करने में दोष होता है उन रसों के वर्णन में प्रधान रस का बीच में वर्णन करके दोनों को व्यवहित करना चाहिए -

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा ।।[22]

यथा नागानन्द नामक नाटक में शान्त तथा शृङ्गार के निरन्तर वर्णन के बीच में अद्भुत रस के समावेश के द्वारा उन दोनों को व्यवहित किया गया है, इसी प्रकार एक ही वाक्य में विद्यमान रहने पर भी, दोनों के मध्य में अविरोधी रस को व्यवहित करने पर दो विरोधी रसों का समावेश होने पर भी विरोध समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार इन विरोधियों का परिहार करने हेतु सत्कवियों को सदैव सावधान रहना चाहिये, इस हेतु आचार्य आनन्दवर्धन समाधान प्रस्तुत करते हैं-

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः ।
तेषां निबन्धने भाव्ये तैः सदैवाप्रमादिभिः ।।

नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान कवेः ।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः ।।
पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः ।
तान्समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ।।
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः ।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः ।।

महाकाव्यादि प्रबन्धों अथवा नाटकादि अभिनेयार्थों में अङ्गाङ्गिभाव रूप से बिखरे हुये अनेक रसों का उपनिबन्धन किया जाता है। कवि प्रबन्धों में अत्यधिक सौन्दर्य स्थापित कर सहृदय सामाजिक को रस की अलौकिकता का प्रत्यक्षीकरण करवाता है अतः कवि को चाहिये वह पूर्व कवियों द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हुये काव्यगत उत्कृष्टता से प्राप्त करे।

विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः ।
विषयं सुकवि : काव्यं कुर्वन्मुह्यति न क्वचित् ।।

सन्दर्भ -

1. अग्निपुराण 4/1,2
2. नाट्यशास्त्र 6/34
3. नाट्यशास्त्र 6/34
4. नाट्यशास्त्र 6/16
5. काव्यप्रकाश 4/47
6. साहित्य दर्पण 3/2,3
7. ध्वन्यालोक 3/17
8. ध्वन्यालोक 3/18,19
9. साहित्यदर्पण 3/254, 255, 256, 257
10. नाट्यदर्पण 3/176
11. शार्ङ्गधरपद्धति 114/12
12. द्विवेदी शिवप्रसाद, 2020, ध्वन्यालोक, पृष्ठ 443, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी ।
13. द्विवेदी शिवप्रसाद, 2020, ध्वन्यालोक, पृष्ठ 446, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी ।
14. द्विवेदी शिवप्रसाद, 2020, ध्वन्यालोक, पृष्ठ 447, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी ।
15. द्विवेदी शिवप्रसाद, 2020, ध्वन्यालोक, पृष्ठ 448, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी ।
16. द्विवेदी शिवप्रसाद, 2020, ध्वन्यालोक, पृष्ठ 448, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी ।
17. ध्वन्यालोक 3/21
18. ध्वन्यालोक 3/22
19. ध्वन्यालोक 3/24
20. द्विवेदी शिवप्रसाद, 2020, ध्वन्यालोक, पृष्ठ 463, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी ।
21. ध्वन्यालोक 3/26

महाकाव्य निकष पर सतीशंकरम् महाकाव्य

· राघवेन्द्र मणि तिवारी*

शोधसार-

प्रस्तुत शोधपत्र में अलंकारशास्त्रों में वर्णित महाकाव्य-लक्षण के आधार पर 'सतीशंकरम्' महाकाव्य के महाकाव्यत्व की समीक्षा की गई है। सतीशंकरम् महाकाव्य १७ सर्गों में निबद्ध ५९८ श्लोकों से युक्त है। इसका उपजीव्य शिवमहापुराण का सतीखण्ड है। अतएव यह एक पौराणिक महाकाव्य है। इसके नायक भगवान शंकर तथा नायिका माता सती हैं। इस महाकाव्य का प्रधान रस शृंगार है। इसमें शिव जी धीरोदात्त श्रेणी के नायक हैं। सतीशंकरम् महाकाव्य में निर्दिष्ट महाकाव्य-लक्षण के सभी तत्व प्राप्त होते हैं। इस शोधपत्र में इन्हीं तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

बीजशब्द - महाकाव्य, सतीशंकरम्, निकष, काव्यशास्त्र, नायक, कथावस्तु, रस, मंगलाचरण, पुरुषार्थचतुष्टय।

सतीशंकरम् महाकाव्य के अध्ययनोपरान्त ज्ञात होना आवश्यक है कि भारतीय काव्यशास्त्रमर्मज्ञों ने महाकाव्य में जिन मूलभूत तत्वों की चर्चा की है, उनकी उपस्थिति है अथवा नहीं। लक्षणग्रन्थों की कल्पना लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर होती है। इसी को आधार मानकर अलंकारिकों ने सर्वप्रथम रामायण आदि लक्ष्य ग्रन्थों का विश्लेषण करके महाकाव्यस्वरूप को प्रस्तुत किया। इन अलंकारशास्त्रियों में भामह का नाम अग्रगण्य है। भारतीय अलंकारशास्त्रियों में अग्रगण्य आचार्य भामह प्रणीत महाकाव्य लक्षण विषयक मत का उपस्थापन द्रष्टव्य है। भामह के लक्षण के अनुसार सर्गों से युक्त तथा आकार में विशाल, उसमें श्रेष्ठ चरित्र का आश्रय होना चाहिए, ग्राम्य शब्दों के प्रयोग से रहित, सुष्ठु सम्पन्न अर्थ तथा अलंकारयुक्त, राजदूत, प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय, नाटकों की पञ्चसन्धियाँ, पुरुषार्थचतुष्टय एवं पुरुषार्थचतुष्टय में अर्थ की प्रधानता, लौकिक व्यवहार, सभी रसों की उपलब्धता इत्यादि तत्वों की उपस्थिति को स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी के पश्चात् रुद्रट ने महाकाव्य के स्वरूप को काव्यालंकार में विशद रूप से प्रस्तुत किया है। इन्होंने महाकाव्य के लक्षण में राजसम्बन्धी मत को अधिक आश्रय दिया है। आचार्य रुद्रट के द्वारा निर्दिष्ट लक्षण का प्रभाव विश्वनाथ प्रणीत लक्षण में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तत्पश्चात् विश्वनाथकृत् महाकाव्यलक्षण का उल्लेख किया जा रहा है इन्होंने कथावस्तु,

*शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग,कलासंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय

चरित्रचित्रण तथा रसभावाभिव्यक्ति तीनों की दृष्टि से महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है-

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजाः बहवोऽपि वा॥
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।[1]

महाकाव्य में किसी ऐतिहासिक या पौराणिक अथवा किसी सज्जन के चरित्र पर आश्रित कथावस्तु होनी चाहिए । महाकाव्यान्तर्गत पुरुषार्थचतुष्टय में से एक प्रयोजन तथा ग्रन्थारम्भ में मंगलविधान, दुर्जनों की निन्दा तथा सज्जनों की प्रशंसा का उल्लेख है। इसमें नायक देवता, कुलीन क्षत्रिय या एक वंशज कुलीन अनेक राजा होते हैं। रचना की दृष्टि से नाटक की पञ्चसन्धियां आवश्यक मानी गयी हैं। प्रत्येक सर्ग एक छन्द में पद्यबद्ध होते हैं, किन्तु सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तित होता है। इसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं जो न अत्यन्त लघु एवं न ही अधिक दीर्घ होते हैं। कहीं-कहीं विभिन्न छन्दों वाले सर्ग भी होते हैं। महाकाव्य में सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, शैल, ऋतु, वन, सागर, युद्ध, प्रस्थान, विवाह, मन्त्र इत्यादि का वर्णन होना चाहिए। महाकाव्य का नामकरण कथानक, नायक, प्रतिनायक अथवा कवि के नाम पर होता है।

आधुनिक महाकाव्य के लक्षणकारों में प्रो० अभिराजराजेन्द्र मिश्र जी ने महाकाव्य-लक्षण में सामान्यतः पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को स्वीकार किया है किन्तु नायक के विषय में महिला नायिकाओं तथा लोकनायकों को भी पर्याप्त स्थान मिला है। इन्होंने महाकाव्य के लक्षण को नवीन समाजिक-व्यवस्था के अनुकूल निर्दिष्ट किया है।

सर्गबन्धो महाकाव्यं लोकवन्द्यजनाश्रमम्।.. आचार्यप्रतिभो नूनं यदि वा भवति क्षमः॥[2]

आचार्य मिश्र जी महाकाव्य में लोकवन्द्य-नायक, तथा विश्वमंगल की स्थापना करने वाली कथावस्तु को स्वीकार करते हैं। महाकाव्य में नायक से सम्बन्धित आद्योपान्त वर्णन सर्गों में होना चाहिए।

इस महाकाव्य लक्षण पर विचार करने के पश्चात् प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत महाकाव्य-स्वरूप विषयक मत भी दृष्टव्य है-

"पद्यात्मकं समग्रजीवननिरूपणपरं महाकाव्यं"।[3]

अर्थात् जिस पद्यबन्ध में नायक के समग्र जीवन का निरुपण हो उसे महाकाव्य कहते है। इसमें विविधता. (गीति, पुराण, लोककथा तथा ऐतिह्य के आधार पर) हो सकती है।

"गीतैतिह्यपुराणलोककथाभेदादस्य नानात्वम्"।[4]

प्रो० त्रिपाठी जी का मानना है कि सिद्धान्त सिर्फ अपनी सन्तुष्टि के लिए नहीं, अपितु सहृदयों के परितोषार्थ होना चाहिए।[5]

महाकाव्य निकष पर सतीशंकरम् :-

'सतीशंकरम्' महाकाव्य पर विचार करना आवश्यक है कि यह ग्रन्थ महाकाव्य निकष पर खरा

उतरता है अथवा नहीं। अलंकारशास्त्रों में प्राप्त महाकाव्य-लक्षण अर्थात् महाकाव्य के लिए मानक मानदण्ड पर खरा उतरना अवश्यक है। सतीशंकरम् महाकाव्य के प्रणेता गोस्वामी बलभद्रप्रसाद शास्त्री हैं।

पौराणिक कथावस्तु –

सतीशंकरम् महाकाव्य की कथावस्तु शिवमहापुराण से उद्धृत है। पौराणिक कथावस्तु होने के साथ ही गोस्वामी बलभद्रप्रसाद शास्त्री ने अपनी मौलिकता एवं कल्पनाओं को पर्याप्त स्थान दिया है। कथावस्तु के विषय में आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षण में **"इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्"**[6] निर्दिष्ट किया है कि कथावस्तु या तो इतिहास, पुराणादि से उद्भूत हो या फिर किसी सज्जन पर आश्रित हो। सतीशंकरम् महाकाव्य में प्राप्त कथावस्तु में भगवान शिव और माता सती के अनुराग-पराग को वर्णित किया गया है, जो पौराणिक एवं लोक-प्रसिद्ध है।

चरितमपारं शम्भोः प्रणमन् महेशचरणौ।
को नु कविः शक्नुते वर्णयितुं यतते कवयितुं गोस्वामी॥[7]

इसकी कथावस्तु विविधता एवं रोचकता से परिपूर्ण है। कवि ने यत्र-तत्र परिवर्तन कर कथावस्तु को अत्यन्त सरल एवं मनोरम बना दिया है। अतः कथावस्तु की दृष्टि से 'सतीशंकरम्' एक श्रेष्ठ महाकाव्य है।

सर्ग–

महाकाव्य लक्षण में प्रायः आचार्यों ने सर्वप्रथम सर्ग के विषय में निर्देश किया है, जैसे भामह ने **"सर्गबन्धो महाकाव्यम्"** आचार्य दण्डी, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने महाकाव्य-लक्षण के विषय में यही निर्दिष्ट किया है। अर्थात् महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए । 'सतीशंकरम्' महाकाव्य १७ सर्गों में विभक्त ५९८ श्लोकों से युक्त है। इस महाकाव्य में सर्ग न ही अधिक विस्तीर्ण और न ही अधिक लघु हैं। जैसा कि लक्षणकारों ने निर्देशित किया है।

"नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह"।[8]

सतीशंकरम् महाकाव्य में सबसे छोटा सर्ग २९ श्लोकों का तथा सबसे बड़ा सर्ग ५२ श्लोकों से युक्त है। अतएव सर्गबद्धता की दृष्टि से 'सतीशङ्करम्' महाकाव्य लक्षण के निकष पर पूर्णतः खरा उतरता है।

नायक–

महाकाव्य में नायक के विषय में प्रायः सभी आचार्यों ने अपने मत का प्रकटन किया है। विश्वनाथ ने 'तत्रैको नायकः सुरः" कहकर नायक सम्बद्ध अपने मत को प्रस्तुत किया है जिसमें नायक देवता या नृपादि सद्वंशोत्पन्न होना चाहिए। प्रस्तुत महाकाव्य के नायक भगवान शंकर हैं जिनमें धीरोदात्त नायक के सभी लक्षण विद्यमान हैं-

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥[9]

कवि ने भगवान शिव के गाम्भीर्य के विषय में वर्णित किया है कि भगवान शिव को विवाह हेतु मनाने के लिये सभी देवतागण उनसे भेंट करने कैलास पर पहुँचते है तो उन्हें भगवान शंकर योग के द्वारा गम्भीर

समाधि में लीन मिलते हैं-

गम्भीरयोगेन समाधिमुद्राव्याप्तं शिवं वीक्ष्य कृतप्रणामाः ।
विरञ्चिविष्णुप्रमुखा विनम्रा बद्धवा स्वहस्तानुपतस्थिरे तम्॥[10]

सती के सामने दक्ष द्वारा शिव के घोर अपमान के कारण सती जी अपने प्राण का त्याग कर देती हैं फिर भी देवगणों के मनाने पर शिव जी सभी को क्षमा कर देते हैं।

इस प्रकार धीरोदात्तता के अन्य लक्षण भी इस महाकाव्य के नायक भगवान शंकर में विद्यमान हैं। अतः नायक की दृष्टि 'सतीशंकरम्' महाकाव्यत्व के निकष पर पूर्णतः खरा उतरता है।

मंगलाचरण-

मंगलाचरण विषयक मत के रूप में सभी अलंकारशास्त्रियों ने निर्देश किया है। विश्वनाथ ने 'आदौनमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा" कहकर मङ्गलाचरण का विधान किया है। मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं –

1. नमस्कारात्मक 2. आशीर्वादात्मक 3. वस्तुनिर्देशात्मक

इस महाकाव्य में सर्वप्रथम भगवान गणेश की वन्दना की गई है। तत्पश्चात् माता सरस्वती, भगवान शंकर, भगवान विष्णु, भगवान राम, भगवती दुर्गा, हनुमान जी, परब्रह्म परमेश्वर की स्तुति की गयी है। सतीशंकरम् महाकाव्य में आशीर्वादात्मक और नमस्कारात्मक दोनों प्रकार मंगलाचरण हैं-

नमस्कारात्मक -

वीणावादिनि वन्दे चरणसरोजौ रजः कणैर्येषाम्।
मलिनामोहकर्दमे बुद्धिः सद्यश्चमत्कुरुते॥ [11]

दुर्जननिन्दा-

जैसा की आचार्य विश्वनाथ ने "**क्वचिन्निन्दा खलादिनाम्**"[12] निर्दिष्ट किया है। महाकाव्य में दुर्जनों की निन्दा महाकाव्य लक्षण का अनिवार्य तत्व है। आचार्य गोस्वामी जी ने सतीशंकरम् महाकाव्य में यथास्थान दुष्टों राक्षसों, तथा दक्ष एवं उसके अनैतिक दुर्व्यवहार की निन्दा की है-

यदि गर्वसमुद्धतो नरो निजधर्माचरणं परित्यजेत्।
नहि कापि बलीयसी क्रिया पतनात् तं भुवि या समुद्धरेत्॥[13]

सज्जनप्रशंसा-

महाकाव्य में "**सतां च गुणकीर्तनम्**"[14] सज्जनों की प्रशंसा भी होनी चाहिए। सतीशंकरम् महाकाव्य में सत्पुरुषों, देवी-देवताओं एवं भगवान शिव की यथास्थान प्रशंसा की गई है जो कि द्रष्टव्य है-

ऐश्वर्यसौख्यं धनवैभवानि दत्ते स्वभक्ताय कृपापरो यः ।
अनन्तलोकोत्तरभोगभर्तुः किं योगिनस्तत्प्रतिलोभनेन॥[15]

पर्वतवर्णन-

प्रस्तुत महाकाव्य में कैलास पर्वत की अनुपम छटा का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया गया है। भगवान

शिव का निवास स्थल कैलास पर्वत है। देवगण शिव जी के पास उनके विवाह के लिए मनाने जाते हैं तो कैलास की मनोरम छटा को देखकर आह्लादित हो उठते हैं--

कैलास रम्यप्रकृतेः प्रसादं ब्रह्मादयोः नेत्रपुटैः पिबन्तः।
शनैः शनैर्मञ्जुलपादपानां मध्ये शिवाधिष्ठितपीठमापुः॥[16]

ऋतुवर्णन-

महाकाव्य के लक्षण में ऋतुवर्णन के विषय में भी निर्देश किया गया है। आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, अन्धकार, प्रातः, मध्याह्न, ऋतु इत्यादि का वर्णन महाकाव्य में होना चाहिए। इनके पूर्ववती आचार्य दण्डी, रुद्रट, तथा अन्य अलंकारशास्त्रमर्मज्ञों ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है। सतीशंकरम् महाकाव्य में अनेक स्थानों पर ऋतुओं का वर्णन किया गया है-

वर्षन्ति मेघाः सुखदाः समन्तात्वहन्ति वाताः सरसाः सुगन्धाः।
केकारवैर्वृक्षतले मयूरा नृत्यन्ति वै पक्षततिं प्रसार्य॥[17]

इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में वसन्त, शिशिर, ग्रीष्म, वर्षा सभी ऋतुओं का बहुत सुन्दर एवं मनोरम वर्णन किया गया है।

यज्ञवर्णन-

शास्त्री जी ने इस महाकाव्य के दशम सर्ग में यज्ञ का विस्तृत वर्णन किया है। मुनियों के द्वारा प्रयागराज में सद्ज्ञान यज्ञ को आयोजित किया जाता है जिसमें भगवान शिव से प्रजापति दक्ष के नाराज होने की कथा वर्णित है। प्रयागराज में आयोजित यज्ञ में दक्ष का शिव से विद्वेष हो जाने पर दक्ष ने कनखल प्रदेश में यज्ञ का आयोजन किया।

प्रयागयज्ञे विद्वेषात् शिवेन सह दुर्मनाः।
क्षुब्धः कनखले दक्षः, यज्ञं कर्तुं मनो दधे॥ [18]

कनखल के महायज्ञ में दुर्बुद्धि दक्ष भगवान शिव की भगवती सती के सामने ही अतीव निन्दा करते हैं।[19] अतएव सती जी के द्वारा कनखल यज्ञ में अग्निसमाधि लेने की कथा त्रयोदश सर्ग में वर्णित किया गया है।

युद्धवर्णन-

सतीशंकरम् महाकाव्य में एकादश सर्ग के अन्तर्गत भगवती सती और प्रभु राम के सम्वाद स्थापन के समय माता सती से भगवान राम खरदूषण विषयक युद्ध का वर्णन करते हैं।[20] तत्पश्चात् चतुर्दश सर्ग में माता सती के अग्निसमाधि ले लेने पर वीरभद्र का विष्णु तथा इन्द्र के साथ घोर युद्ध होता है जिसमें दोनों पक्ष के योद्धाओं को हानि पहुंचती है-

युद्धे तयोस्तदनु घोरमभूत् प्रचण्डं तत्रेषुभिः प्रचुरशस्त्रबलैरवाच्यम् ।
पक्ष द्वये शिवगणाश्च सुरादयोऽपि बाणैर्हताश्च विपुलाः क्षतविक्षताङ्गाः॥ [21]

विवाह वर्णन-

सतीशंकरम् महाकाव्य में भगवान शंकर और माता सती के विवाह की अलौकिक छटा वर्णित है।

सती की तपस्या पूर्ण होने पर शिव जी उनको अपनी भार्या होने का वरदान प्रदान करते हैं।[22] तत्पश्चात् सती जी विनम्रतापूर्वक कहती हैं कि आपके वरदान के प्रभाव से मैं आपकी अर्धांगिनी हो चुकी हूँ, परन्तु आप मेरे पिता के द्वार आकर वैवाहिक संस्कार के द्वारा मेरा वरण करें।[23] भगवान शिव और माता सती के विवाह विषयक वृतान्त का विशद वर्णन सप्तम, अष्टम, एवं नवम सर्ग में किया गया है।

महेश्वरश्चापि विवाहमण्डपे सुभूषिताङ्गो रमणीयदर्शनः ।
सुचारुचन्द्रप्रभया सतीमुखस्वरूपशोभां द्विगुणीचकार सः॥ [24]

रसविवेचन –

"श्रृंगारवीरशान्तनामेकोऽङ्गी रस इष्यते"। [25]

उपर्युक्त कारिका से स्पष्ट है कि महाकाव्य में श्रृंगार, वीर,तथा शान्त इनमें से एक प्रधान रस होता है इस महाकाव्य में बलभद्रप्रसाद शास्त्री ने मुख्य रूप से सतीजी और शिवजी के अनुराग-पराग को वर्णित किया है-

अनुरागविरागरञ्जितं करुणाक्रोधकृशानुतर्जितम् ।
शिवलोककथाक्रमे शुभंचरितं मंगलमोदवर्धनम्॥ [26]

सतीशंकरम् महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में सती की तपस्या पूर्ण को जाने के उपरान्त भगवान शंकर से मिलन का मनोरम वर्णन किया गया है। अष्टम सर्ग में शिवजी सती से मिलकर कैलास पर लौटते हैं परन्तु वे सती का वियोग में विह्वल होने लगते हैं। शिवजी का भोजन-पान् एवं भाँग से विरक्ति हो जाती है।[27] गोस्वामी जी ने सती के आत्मदाह कर लेने पर करुण-रस का मार्मिक वर्णन किया है। युद्धवर्णन प्रसंग में गौणरूप से रौद्र तथा वीर रस का भी वर्णन प्राप्त होता है। सप्तदश सर्ग में पुनः माता सती पार्वती के रूप में जन्म लेती हैं फिर उनका मिलन भगवान शंकर से होता है। इस प्रकार श्रृंगार रस इस महाकाव्य का प्रधान रस है इसके साथ ही करुण, वीर, रौद्र इत्यादि इसके गौण रस के रूप में हैं।

पुरुषार्थ वर्णन-

कतिपय अलंकारशास्त्रियों ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थ-चतुष्ट्य को महाकाव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने एक भी पुरुषार्थ हो तो उसको प्रयोजन रूप में स्वीकार किया है। प्रस्तुत महाकाव्य के आद्यन्त समीक्षण से ज्ञात होता है कि इस महाकाव्य में प्रमुखतः काम की सिद्धि हुई है। भगवती सती एवं शिवजी का मिलन तथा माता सती के अग्निसमाधि लेने पर पार्वती जी के रूप में सती तथा शिव का पुनर्मिलन ही इस महाकाव्य का प्रयोजन है। गौणरूपेण धर्मपुरुषार्थ भी इस महाकाव्य का प्रयोजन है

नामकरण-

महाकाव्य का नामकरण कवि, चरित्र,नायक, प्रतिनायक, तथा कथावस्तु के आधार पर होना चाहिए। सतीशंकरम् महाकाव्य के नायक भगवान शंकर हैं तथा नायिका माता सती हैं। यहाँ पर नायक एवं नायिका के गुणानुवादकीर्तन को उद्देश्य करके 'सतीशंकरम्' नामकरण किया गया है।

उपसंहार-

उपर्युक्त समीक्षा से प्रतीत होता है कि कवि ने महाकाव्य लक्षणों के आधार पर ही सतीशंकरम् महाकाव्य का प्रणयन किया है। यथा– इस महाकाव्य में नायक देवता तथा धीरोदात्त गुणों से समन्वित है। इस महाकाव्य में प्रधान रस शृङ्गार तथा अन्य गौण रस हैं। कथा पुराण आश्रित है। इस महाकाव्य में काम पुरुषार्थ प्रयोजन के रूप में विदित है। प्रस्तुत महाकाव्य में मङ्गलाचरण के दो प्रकार प्राप्त हुये हैं। तथा महाकाव्य लक्षण में निर्दिष्ट अन्य तत्वों के आधार पर इसका प्रणयन किया गया है किन्तु छन्दों में यत्र-तत्र च्युतसंस्कार, अप्रयुक्तादि दोष विद्यमान हैं। इस महाकाव्य के कुछ सर्गों में सर्गान्त से पूर्व ही छन्द परिवर्तन कर दिया गया है तथा सर्गान्त में उन्हीं छन्दों का प्रयोग है जो सर्ग के प्रारंभ में प्रयुक्त थे। ऐसे कतिपय दोषों के अतिरिक्त यह ग्रन्थ महाकाव्य-लक्षण की कसौटी पर खरा उतरता है।

सन्दर्भ -

1. साहित्यदर्पण ६.३१५-३१७
2. अभिराजयशोभूषणम्, अभिराजराजेन्द्र मिश्र ६६-८०
3. अभिराजयशोभूषणम्, अभिराजराजेन्द्र मिश्र पृष्ठ २२२-२२३
4. अभिराजयशोभूषणम्, अभिराजराजेन्द्र मिश्र पृष्ठ २२३
5. अभिराजयशोभूषणम्, अभिराजराजेन्द्र मिश्र पृष्ठ २२३
6. साहित्यदर्पण ६.३१८
7. सतीशंकरम् १.९
8. साहित्यदर्पण ६.३२०
9. साहित्यदर्पण ३.३२
10. सतीशंकरम् ५.१३
11. सतीशंकरम् १.२
12. साहित्यदर्पण ६.३१९
13. सतीशंकरम् १३.२
14. साहित्यदर्पण ६.३१९
15. सतीशंकरम् १०.२०
16. सतीशंकरम् ५.१३
17. सतीशंकरम् ३.१८
18. सतीशंकरम् १२.१
19. सतीशंकरम् 13.30
20. सतीशंकरम् 11.29
21. सतीशंकरम् १४.२३
22. सतीशंकरम् 6.23
23. सतीशंकरम् 6.28
24. सतीशंकरम् ९.२१
25. साहित्यदर्पण ६.३१७
26. सतीशंकरम् १.११
27. सतीशंकरम् 8.3

पराशर एवं शंखस्मृति में वर्णित दाम्पत्य जीवन

· सुनील कुमार*

शोधसार –

पति एवं पत्नी गृहस्थ जीवन के आधार-स्तम्भ हैं। पति के द्वारा पत्नी हमेशा प्रत्येक परिस्थिति में रक्षणीय होती है और पत्नी भी अपने पति के प्रति सदैव सेवाभाव से पतिव्रता रहती है। दम्पत्ति को परस्पर में किसी भी प्रकार की समस्या होने पर घर के श्रेष्ठजनों के सहयोग से सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए। दाम्पत्य जीवन में रहते हुए आजीवन परस्पर सामञ्जस्य की भावना आवश्यक रूप से होनी चाहिए। समाज में व्याप्त व्यभिचारों से बचने के लिए पुनर्विवाह की संकल्पना प्राप्त होती है। पत्नी के द्वारा पति को विना बताये यदि व्रतादि क्रिया का सम्पादन किया जाता है, तो वह अपने पति की आयु को कम करती है। पत्नी पति की सेवा से ही स्वर्ग को प्राप्त करती है।

बीजशब्द – दम्पत्ति, पति, पत्नी, पतिव्रता, विवाह, परिवार, घर, गृहस्थ, रक्षा, काम, पुरुषार्थ।

भारतीय समाज में परिवार की प्रधानता को बनाए रखने के लिए दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। "दम्पत्ति" शब्द स्त्री एवं पुरुष में एकत्व की भावना को संकेतित करता है। पति एवं पत्नी को दम्पत्ति कहा जाता है- दम अर्थात् घर, पति अर्थात् स्वामी। ये दोनों संयुक्त रूप से घर के स्वामी होते हैं।[1] पति – पत्नी ही परिवार वृध्दि के मूल स्रोत हैं। पत्नी को परिवार रूपी शरीर की रीढ़ की हड्डी कहा गया है क्योंकि सम्पूर्ण परिवार उसी से ही किसी न् किसी प्रकार से सम्बध्द रहता है। भारतीय परम्परा में पति के बिना पत्नी का अस्तित्त्व नगण्य है।[2] समाज में पत्नी अपने पति के सहयोग, विश्वास एवं सौहार्द के आधार पर ही समस्त उत्तरदायित्वों का निर्वहन भलीभांति कर पाती है। शंख स्मृति के अन्तर्गत यह उल्लेख मिलता है कि विद्या प्राप्त करने के पश्चात् ब्रह्मचारी द्वारा अपने प्रवर एवं गोत्र से भिन्न प्रवर एवं गोत्र वाली अथवा अपनी माता की पांच तथा पिता की सात पीढियों से पृथक् वाली भार्या को प्राप्त करने का विधान मिलता है-

विन्देत् विधिवद्भार्यामसमानार्षगोत्रजाम्।
मातृतः पञ्चमीञ्चापि पितृतस्त्वथ सप्तमीम्॥[3]

पराशर स्मृति में उल्लेख किया गया है कि जिस पुरुष का शरीर युध्द क्षेत्र में बाण, शक्ति, ऋष्टि एवं मुदगरों के द्वारा घावों से जख्मी हो जाता है अथवा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो स्वर्ग लोक में देवकन्याएं एवं

*शोधच्छात्र, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई-दिल्ली।

नागकन्याएं उस पुरुष की स्तुति करते हुए पति बनाने का प्रयास करती हैं।[4] इससे स्पष्ट होता है कि समाज में वीर पुरुष सभी प्रकार की स्त्रियों के लिए प्रापणीय होता है।

पति एवं पत्नी का सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र होता है क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के अंग प्रत्यंग माने जाते हैं, इसीलिए पत्नी को अर्ध्दाङ्गिनी कहा जाता है। गृहकार्यों, धार्मिक कर्त्तव्यों एवं सुख-दुःख में ये दोनों परस्पर एक दूसरे के साथी होते हैं। जो अपने पति के साथ यज्ञ में भागीदार हो, पतिव्रता हो, पति प्राण-प्रिय हो तथा जो सन्तान वाली हो वह पत्नी कहलाती है-

सा भार्य्या या वहेदग्निं सा भार्य्या या पतिव्रता।
सा भार्य्या या पतिप्राणा सा भार्य्या या प्रजावती॥[5]

पत्नी को घर की लक्ष्मी कहा जाता है इस कारण से पत्नी सदैव लालन-पालन और संरक्षण के योग्य होती है। जब उसका लालन और पालन किया जाएगा तभी वह लक्ष्मी बन सकती है अन्यथा कदापि नहीं बन सकती है।[6] पति द्वारा पत्नी स्नेहभाजन के योग्य तथा हमेशा संरक्षणीय होती है। पति अपनी पत्नी के ऊपर अपनी छत्रछाया हमेशा बनाए रखें चाहें विप्लव के समय, युध्द के समय, अकाल पड़ने के समय, जन-संहार के समय, बन्दी बनाये जाने के समय और आतंक काल में उसकी रक्षा करे।[7] अन्यान्य स्मृतियों में भी इसी मत को पुष्ट किया गया है।[8]

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत समाज का स्वरूप ही मनीषियों के द्वारा ऐसा बनाया गया था कि पुरुष घर से बाहर के कामों को तथा स्त्री घर के अन्दर के कामों को सम्यक् ढंग से सञ्चालित किया करते थे। यह व्यवस्था वर्तमान समाज में आज भी दृष्टिगत होता है लेकिन अब स्त्रियां भी पुरुषों की भांति घर के अन्दर के कार्यों के साथ – साथ बाहर के कार्यों को भी पुरुषों के समान ही करने में सक्षम हैं और पुरुष भी घर से बाहर के कार्यों के साथ ही साथ घर के अन्दर के कार्यों को बहुत अच्छे ढंग से करने में समर्थ हैं। पत्नी पतिव्रता एवं पति पत्नीव्रता का पालन करते हुए अपने जीवन को सुगम बनाते हैं। पतिव्रता स्त्री का वर्णन करते हुए पराशर स्मृति में कहा गया है कि जो स्त्री पतिव्रता होती है वह शरीर में स्थित साढ़े तीन करोड़ लोम सदृश उतने ही समय तक स्वर्ग का भोग करती है। जिस प्रकार से सपेरा बलपूर्वक सांप को बिल से बाहर निकालता है ठीक उसी प्रकार से वह पतिव्रता स्त्री अन्य जन्म के प्राप्त होने पर उसके साथ ही आनन्दपूर्वक जीवन यापन करती है–

तिस्रः कोट्यर्ध्दकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।
तावत् कालं वसेत् स्वर्गे भर्त्तारं यानुगच्छति॥
व्यालग्राही यथा व्यालं बिलादुध्दरते बलात्।
एवमुद्धृत्य भर्त्तारं तेनैव सह मोदते॥[9]

महर्षि शंख का मत है कि स्त्री अत्यन्त पवित्र होती है, रात्रिकाल में सम्भोग करने के समय स्त्री का मुख विशेष रूप से पवित्र होता है।[10] महर्षि वशिष्ठ का मत भी है कि जिस प्रकार से बछड़े एवं पक्षी का मुख पवित्र होता है उसी प्रकार से ही स्त्री भी केवल सम्भोग के समय ही नहीं अपितु सदैव सभी ओर से पवित्र होती है।[11] रजस्वला स्त्री पति के लिए चौथे ही दिन पवित्र हो जाती है।[12] ऋतु में स्नान की हुई जो स्त्री अपने पति के

समीप नहीं जाती है, वह मृत्यु को प्राप्त करके नरक में जाती है और अनेक बार वैधव्य जीवन को व्यतीत करती है। ठीक उसी प्रकार जो पति ऋतु में स्नान की हुई स्त्री के पास नहीं जाता है, वह घोर भ्रूणहत्या से युक्त होता है। जो अपनी पतिव्रता स्त्री को यौवन में त्याग देता है वह सात जन्मों तक वैधव्य स्त्री का जीवन यापन करता है।[13]

चतुर्विध पुरुषार्थों की प्राप्ति का आधार गृहस्थ ही है। धर्मशास्त्रानुसार वर्णित धर्मपुरुषार्थ पर आश्रित होकर ही अर्थ एवं काम की प्राप्ति करनी चाहिए। काम का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पति एवं पत्नी के द्वारा काम की प्राप्ति भी धर्मानुसार करने का विधान है। गृहस्थ में रहते हुए स्त्री एवं पुरुष परिवार रूपी गाड़ी के दो पहिए के सदृश हैं, इन दोनों में मानसिक साम्यता होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए महर्षि मनु ने भी कहा है कि जब पति और पत्नी परस्पर वशीभूत होकर एक दूसरे के अनुगामी होते हैं, तब परिवार के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम स्वयं ही एकत्रित हो जाते हैं।[14] इस प्रकार के क्रियाकलाप के सञ्चालन से ही वास्तविक सुख की उपलब्धि सम्भव है।

महर्षि पराशर का मत है कि मूर्ख, दरिद्र एवं रोगी पति का जो पत्नी आदर-सम्मान नहीं करती है तो वह स्त्री मृत्यु को पाकर सांपिन बनती है तथा बार – बार वैधव्य जीवन जीती है।[15] इसी प्रकार का उल्लेख रामचरितमानस में भी मिलता है कि जिस स्त्री के द्वारा अपङ्ग, निर्धन एवं गुणहीन पति का सम्मान नहीं किया जाता है तो वह स्त्री निन्द्य है।[16] इस प्रकार यदि कोई स्त्री किसी पुरुष के साथ विवाह के बन्धन में बंध जाती है तो उसको आजीवन अपने पातिव्रत्य धर्म का पालन करते हुए पति सेवा में संलग्न रहना चाहिए। चाहें पति शारीरिक एवं मानसिक रूप से अक्षम ही क्यों न हो। यदि इस प्रकार की भावना वर्तमान समाज में प्रत्येक दम्पत्ति के मध्य में रहे तो सामाजिक व्यभिचार का उन्मूलन आसानी से हो सकता है जिससे स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सकता है। जो स्त्री पति के जीवित रहते हुए अथवा बिना बताए उपवास करती है तो वह अपने पति की आयु को कम करती है और खुद भी नरक को प्राप्त होती है एवं उस उपवास का फल राक्षसों को प्राप्त होता है।[17] समाज के अन्तर्गत अनेक प्रकार की मनोकामनाओं की पूर्ति हेतु अनेक प्रकार के व्रतों का प्रचलन मिलता है। व्रतों को करने से विविध प्रकार के कष्टों का शमन होता है, लेकिन यह व्रत विना पति के संज्ञान में लाये नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा किया जाता है तो इससे पति की आयु कम होती है तथा दम्पति नरक को प्राप्त होते हैं।

भारतीय समाज में यदि किसी पुरुष का किसी अन्य स्त्री के प्रति व्यभिचार हो जाता है तो उसके विषय में नियम प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आंधी द्वारा उड़ाकर लाया हुआ बीज जिसके खेत में गिरकर उत्पन्न हो जाता है, उस खेत का स्वामी ही उस बीज के फल को प्राप्त करता है, बीज वाला उसमें हिस्सेदार नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार किसी स्त्री का अन्य पुरुष के साथ समागम होने के पश्चात् उससे उत्पन्न हुआ पुत्र उसी पुरुष का होता है जिसकी वह पत्नी होती है।[18] जिस विवाहिता स्त्री का पति छोड़कर कहीं अन्यत्र स्थान पर चला गया हो या मर गया हो उसके अलावा स्त्री गर्भ को धारण कर लेती है तो राजा उस स्त्री को पतित सम्बोधित करते हुए देश निकाला दे दे।[19] जो स्त्री अपनी इच्छा से अथवा अज्ञानतावश अपने पति,

पुत्र और बन्धु-बान्धवों को छोड़कर चली जाती है उस स्त्री कदापि स्वीकार नहीं करने का विधान है। ऐसी स्त्री इहलोक एवं परलोक में नष्टा समझी जाती हैं। मना करने के पश्चात् भी यदि कोई स्त्री अन्य पुरुष के साथ भाग जाती है और अनेक पुरुषों के सम्बन्ध स्थापित करती है तो ऐसी स्त्री को सम्पूर्ण गोत्र वाले मिलकर उसका परित्याग करें।[21] जो अपने पति को छोड़कर किसी अन्य से विवाह कर लेती है तो वह स्त्री तीन दिन में शुध्द होती है।[20] स्त्री के लिए मादक द्रव्य को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। जिस मनुष्य की पत्नी नशीले पदार्थ का सेवन करती है उसका आधा शरीर पतित हो जाता है।[22] इस प्रकार के अनैतिक अनाचार से बचने के लिए ही इन स्मृतियों में स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान मिलता है।

विधवा विवाह का उल्लेख करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं कि जिस स्त्री का पति गुम हो गया हो, मर गया हो, संन्यास ग्रहण कर लिया हो, नपुंसक हो गया हो और पतित हो गया हो तब वह दूसरा विवाह कर सकती है। पति की मृत्यु के पश्चात् यदि स्त्री ब्रह्मचर्य पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करती है तो वह मरकर उत्तम ब्रह्मचारिणियों के समान स्वर्ग को प्राप्त करती है।[23] साम्प्रतिक समाज में इस प्रकार की व्यवस्था प्रचलित है कि यदि विवाह के पश्चात् स्त्री के पति की मृत्यु हो जाती है तो उसके पुनर्विवाह की व्यवस्था विद्यमान है, लेकिन पति के जीवित रहते हुए भी आजकल पति एवं पत्नी में सामञ्जस्य न होने के कारण विवाहविच्छेद (तलाक) की परम्परा समाज में तीव्र गति से फैल रही है। यदि इन दोनों स्मृतियों में बताये गये विधानों का सम्यक रीति से पालन किया जाये तो सुखी गृहस्थ जीवन बिताया जा सकता है।

दाम्पत्य जीवन बिताते हुए यदि किसी बात को लेकर पति एवं पत्नी में झगड़ा हो जाए और पति अपनी पत्नी को "तू मेरे लिये अगम्या है" कहे और कुछ समय के पश्चात् वह अपनी पत्नी के पास वापस जाना चाहे तो वह इस बात की घोषणा विद्वज्जनों के मध्य करे।[24] मनुस्मृति में भी पति को निर्देश देते हुए कहते हैं कि पुरुषों को अपनी स्त्रियों के साथ कलह नहीं करना चाहिए।[25] पति एवं पत्नी के बीच में यदि किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न हो जाए तो उस विवाद को परिवार के प्रधान सदस्यों के समक्ष रखना चाहिए और उसको वहीं पर समाप्त करने का प्रयास किया जाना चाहिए। वर्तमान समय में दम्पत्तियों के मध्य सामञ्जस्य का अत्यधिक अभाव मिलता है जिस कारण से ज्यादातर समस्याओं की उत्पत्ति होती है। स्त्री न तो व्रतों से, न तो उपवासों से, तथा न ही अनेक प्रकार के धर्मों के आचरण से स्वर्ग को प्राप्त करती है, वह केवलमात्र पति सेवा से ही स्वर्ग को प्राप्त करती है-

न व्रतैर्नोपवासैश्च धर्मेण विविधेन च।
नारी स्वर्गमवाप्नोति प्राप्नोतिपतिपूजनात्॥[26]

महर्षि मनु एवं वशिष्ठ का भी मानना है कि पति की सेवा करने से ही स्वर्ग को प्राप्त होती हैं।[27] इस प्रकार से पराशर एवं शंखस्मृति में वर्णित दाम्पत्य जीवन का वर्णन मिलता है। इनके प्रयोग से मनुष्य गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाते हुए स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है।

सन्दर्भ –

1. डॉ० कृष्णकुमार, प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 223

2. जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तेसिअ नाथ पुरुष बिन नारी॥ रामचरितमानस, अयो० दो० 64, चौ० 4
3. विन्देत् विधिवद्भार्यामसमानार्षगोत्रजाम्। मातृतः पञ्चमीञ्चापि पितृतस्त्वथ सप्तमीम्॥ शं० स्मृ०, 4/1
4. यस्य च्छेदक्षतं गात्रं शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः। देवकन्यास्तु तं वीरं गायन्ति रमयन्ति च॥ देवाङ्गनासहस्राणि शूरमायोधने हतं। नागकन्याश्च धावन्ति मम भर्त्ता भवेदिति॥ परा० स्मृ०, 3/42-43
5. सा भार्य्या या वहेदग्निं सा भार्य्या या पतिव्रता। सा भार्य्या या पतिप्राणा सा भार्य्या या प्रजावती॥ शं० स्मृ०, 4/14
6. लालनीया सदा भार्य्या ताडनीया तथैव च। लालिता ताडिता चैव स्त्री श्रीर्भवति नान्यथा॥ शं० स्मृ०, 4/15
7. डामरे समरे वापि दुर्भिक्षे वा जनक्षये। वन्दिग्राहे भयार्त्ते वा सदा स्वस्त्रीं निरीक्षयेत्॥ परा० स्मृ०,10/17
8. मनु०, 9/96, याज्ञ०, 1/85, व्यास०, 2/53-54, वसि०, 5/4, नारद०,13/30-31
9. परा० स्मृ०, 4/33-34
10. शय्या भार्या शिशुवस्त्रमुपवीतं कमण्डलुः। आत्मनः कथितं शुध्दं न शुध्दं हि परस्य च॥ नारीणां चैव वत्सानां शकुनीनां शुनां मुखम्। रात्रौ प्रस्रवणे वृक्षे मृगयायां सदा शुचि॥ शं० स्मृ०,16/14-15
11. स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः। वसि० 28/8-9
12. शुध्दा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला। शं० स्मृ०,16/16
13. ऋतुस्नाता तु या नारी भर्त्तारं नोपसर्पति। सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः॥ ऋतौ स्नातान्तु यो भार्य्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥ परा० स्मृ०, 4/13-1
14. मनु०, 3/61
15. अदुष्टा पतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत्। सप्त जन्म भवेत् स्त्रीत्वं वैधव्यं च पुनः पुनः॥ दरिद्रं व्याधितं मूर्खं भर्त्तारं या न मन्यते। सा मृता जायते व्याली वैधव्यञ्च पुनः पुनः॥ परा० स्मृ०, 4/15-16
16. वृध्द रोगबस जड़ धनहीना। अन्ध बधिर क्रोधी अतिदीना॥ एसेहुं पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥ रामचरितमानस, अरण्य० दो० 4, चौ० 3
17. पत्यौ जीवति या नारी उपोष्य व्रतमाचरेत्। आयुष्यं हरते भर्तुः सा नारी नरकं व्रजेत्॥ अपृष्ट्वा चैव भर्तारं या नारी कुरुते व्रतम्। सर्वं तद्राक्षसान् गच्छेदित्येवं मनुरब्रवीत्॥ परा० स्मृ०, 4/17-18
18. ओघवाताहतं बीजं यथा क्षेत्रे प्ररोहति। क्षेत्री तल्लभते बीजं न बीजी भागमर्हति॥ तद्वत् परस्त्रियाः पुत्रौ द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ। परा० स्मृ०, 4/22-23
19. जारेण जनयेद् गर्भं गते त्यक्ते मृते पतौ। तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्॥ परा० स्मृ०,10/30
20. ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत् परपुंसा समन्विता। सा तु नष्टा विनिर्द्दिष्टा न तस्यां गमनं पुनः॥ कामान्मोहाद्यदा गच्छेत्त्यक्त्वा बन्धून् सुतान् पतिम्। सा तु नष्टा परे लोके मानुषेषु विशेषतः॥ ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत् परपुंसा विवर्जिता। गत्वा पुंसां शतं याति त्यजेयुस्तान्तु गोत्रिणः॥ परा० स्मृ०, 10/31-32,36
21. अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च। परपूर्वासु च स्त्रीषु त्र्यहाच्छुध्दिरिहेष्यते॥ शं० स्मृ०,15/13
22. पतत्यर्ध्दं शरीरस्य यस्य भार्य्या सुरां पिबेत्। परा० स्मृ०, 10/27
23. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता। सा मृता लभते स्वर्गं यथा सद्ब्रह्मचारिणः॥ परा० स्मृ०, 4/31-32
24. यस्तु क्रुध्दः पुमान् भार्य्यां प्रतिज्ञायाप्यगम्यताम्। पुनरिच्छति ताङ्गन्तुं विप्रमध्ये तु श्रावयेत्॥ परा० स्मृ०, 12/53
25. मनु०, 4/180
26. शं० स्मृ०, 5/8
27. मनु०, 5/155 वसि०, 5/3-4

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति आचार्य श्रीभोजदेव का अवदान

· अजय सिंह*

शोधसार –

शब्दार्थ काव्य का शरीर है, शरीर की सुषमा तभी होती है जब वह सुगठित हो निर्दोष, सगुण हो, अलङ्कृत हो, अवयवों का विन्यास पेशल हो। अन्तःशब्दार्थ की संघटना, रीति तथा वृत्ति, उक्ति, दोषाभाव, गुण, अलङ्कार तथा रस की समीक्षा काव्य में आवश्यक है। इसी समीक्षात्मक अध्ययन में अनेक काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र को उत्कृष्टता के परमशिखर पर प्रतिष्ठित किया है। इसी विद्वत शृङ्खला में, प्रस्तुत शोधपत्र में आचार्य भोजदेव द्वारा संस्कृत काव्यशास्त्र को समृद्ध करने का समुचित विवेचन किया गया है।

बीजशब्द – काव्यशास्त्र, समराङ्गसूत्रधार, परमनिष्णात, उज्जयिनी, धारेश्वर, त्रिभुवननारायण, व्यवहारविदे, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

संस्कृत भाषा में रम्य या हृदयग्राही रचना की समीक्षा की पद्धत्ति को काव्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, साहित्याशास्त्र या आलोचनाशास्त्र कहते हैं, काव्यशास्त्र में उन समस्त विषयों का ग्रहण होता है जिनका काव्य की रचना में भावात्मक या अभावात्मक योगदान है, इसमें काव्य के लिए उपादेय (रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलङ्कार) तथा हेय (दोष) विषयों का अनुशीलन होना है, इन्ही तत्त्वों के आधार पर किसी रचनाकार या उनकी रचना के समीक्षा की जा सकती है, यदि काव्यशास्त्रीय व्युत्पत्ति न हो तो समस्त कवि एक समान ही लगेंगे, भावुकता में आकर सबको उत्कृष्ट या निकृष्ट ही कह देना अशास्त्रीय घोषणा-मात्र है। यद्यपि किसी रचना का आनन्द या प्रभावकता बहुत दूर तक आत्मनिष्ठ विषय है किन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र उसे अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति का विषय बनाने का प्रयास करता है, यही इसकी महत्ता है।

उपरोक्त उपादेय तथा हेय विषयों के अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, काव्यभेद जैसे अनेक विषय भी अनेक आचार्यों के द्वारा विवेचित हुए हैं, इन्हे भी शास्त्र का विषय कहा जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ इन समस्त तत्त्वों को समाहित कर संस्कृत काव्य को समृद्ध किया है।

काव्यशास्त्र में आदि के सभी आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को काव्यालङ्कार नाम से अभिषिक्त

*शोधच्छात्र, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

किया है। अतः आचार्य भोजदेव ने मुख्य रूप से इस शास्त्र के लिए 'काव्यशास्त्र' पद का प्रयोग किया है, परन्तु उन्होंने शास्त्र शब्द की विधि- प्रतिषेध परक शासनात् शास्त्रं इस पहली व्युत्पत्ति को लेकर ही शास्त्र शब्द का प्रयोग माना है-

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।
काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।।[1]

जो विधि तथा निषेध दोनों दशाओं में विशद ज्ञान का ही कारण है,उसको अध्येय समझा जाता है। इसमे लोकव्यवहार सम्पन्न होता है। यह अध्येय भी छः प्रकार का होता है- काव्य, शास्त्र, इतिहास, काव्यशास्त्र, काव्येतिहास, शास्त्रेतिहास।

आचार्य भोजदेव द्वारा दिया गया यह विभाजन तथा अध्येय का उद्देश्य दोनों ही आश्चर्य जनक तथा आनन्दप्रद है। लोग काव्य के कारणों में व्युत्पति का योग आवश्यक समझते हैं, किन्तु यहाँ अध्येय-साहित्य को ही व्युत्पत्ति का कारण कहा जाता है।वस्तुतः इसमें ही आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट 'व्यवहारविदे' तथा 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' दोनों का समावेश हो जाता है, तथापि रुद्रट की ये पंक्तियां उससे भी मनोहर है-

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थिति पदपदार्थ विज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।।
विस्तरतस्तु किमन्यत् तद् इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्ग सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा।।

आचार्य भोजदेव ने काव्य का प्रयोजन कीर्ति और प्रीति को ही माना हैं।

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरङ्कृतम्।
रसान्वितं कविःकुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।[3]

दोषहीन, गुणसमन्वित, अलङ्कारों से विभूषित तथा रसपेशल काव्य की रचना करता हुआ कवि यश तथा आनन्द प्रीति प्राप्त करता है। यहाँ 'काव्यम्' पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'निर्दोष' 'गुणवत्' 'अलङ्कारैरलंकृतम्' तथा 'रसान्वितम्' पद ग्रन्थकार की काव्य-विषयक मान्यता को स्पष्ट कर देते हैं।

आचार्य भामह ने भी काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[4] तथा आचार्य दण्डी ने 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली काव्यम्'[5], अग्निपुराण में 'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली काव्यम्'[6] आचार्य रुद्रट ने 'शब्दार्थौ काव्यम्'[7], आचार्य वामन ने 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः वर्तते'[8] आदि समस्त परिभाषाओं मे शब्द तथा अर्थ अनिवार्यतः काव्य शरीर के रूप में स्वीकृत हैं। आचार्य भोजदेव के परवर्ती आचार्यों में आचार्य हेमचन्द्र की काव्य परिभाषा 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'[9] इनके अत्यन्त निकट है। इसी प्रकार आचार्य मम्मट का 'तद् दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कती पुनः क्वापि'[10], वाग्भट्ट का 'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यमय'[11], विद्यानाथ' गुणालङकार

सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्'[1 2], जयदेव-'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता। सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।।[13]

आदि काव्य लक्षणों में आचार्य भोजदेव का प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य भोजदेव रसवादी समीक्षक है। अतः काव्य के लिए अपेक्षित गुण एवं अलङ्कार दोनों में से किसी एक को ही यदि ग्रहण करना हो तो वह गुणों को ही वरीयता प्रदान करेंगे, गुणों का रस से नित्य सम्बन्ध है जबकि अलङ्कारों का नहीं-

अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः।।[14]

अलङ्कार युक्त रहने पर भी गुणहीन काव्य को नहीं सुनना चाहिए। गुण तथा अलङ्कार इन दोनों के योगों में गुण का योग अपेक्षाकृत प्रमुख है।

आचार्य भोजदेव ने वाङ्मय के तीन भेद किये है-

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वानुग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानते।। [15]

आचार्य दण्डी ने वाङ्मय के दो भेद माने है-

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चते वाङ्मयम्।

आचार्य भोजदेव रसोक्ति को स्पष्ट करते हुए कहते है-

विभावस्यानुभावस्य सात्विकव्यभिचारिणोः।
संयोगे तस्य निष्पत्तिमात्रं निष्पत्तिरिष्यते।। [16]

पूर्ववर्ती आचार्य भरतमुनि, आनन्दवर्धन, अभिनवादि को प्रमाण मान कर रस निष्पत्ति की प्रक्रिया उनके द्वारा जो वर्णित थी, उसी को स्वीकार करते है।

उक्ता भावादिभेदेन तेऽमी रत्यादयो रसाः।
अथैतेष्वेव केषाञ्चिद्विशेषानभिदध्महे ।।
श्रृङ्गारवीरकरुणा रौद्राद्भुतभयानकाः।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तादात्तोद्धता रसाः।।[17]

आचार्य भोजदेव ने 12 रसों का उल्लेख किया है। यह संख्या तथा नाम दोनों ही परम्परा से कुछ भिन्न हैं। आचार्य भरतमुनि ने महात्मा द्रुहिण का मत उद्धृत किया तथा स्वयं भी माना कि-

श्रृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञोचेत्यष्टौ नाटये रसाःस्मृताः।।
एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना।।[18]

आचार्य भरतमुनि के समतुल्य ही धनञ्जय ने दशरूपक में शान्त रस के स्थायी भाव को ही अस्वीकार कर दिया-

शममपिकेचित्प्राहुः पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य।।[19]

आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य मम्मट आदि ने पुनः शान्त रस की स्थापना की अन्ततः मम्मट का यह वाक्य एक प्रकार से सिद्धान्त बन गया -

निर्वेदः स्थायिभावोऽपि शान्तोऽपि नवमो रसः।[20]

आचार्यों के मतानुसार सर्वप्रथम शान्तरस की स्थापना नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार उद्भट ने अपने प्रतिष्ठित ग्रन्थ काव्यालङ्कार संग्रह में प्रस्तुत किया था।[21]

रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार में भी इसी प्रकार इन्हीं रसों को ही प्राथमिकता प्रदान की है-

श्रृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रःशान्त प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे।।[22]

वहीं इन्होंने मधुर रस की ओर संकेत किया -

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यो।[23]

अन्त में रूपगोस्वामी ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि में भक्ति को भी रस रूप में मान्यता प्रदान की है।

आचार्य भोजदेव ने ना तो भक्ति को रस रूप में विवेचन किया है और नहीं स्थायी भावों के प्रकरण में ऐसा कोई प्रमाण दिया है।

आचार्य भोजदेव के जीवन परिचय में डॉ द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के शब्दों में- महाराज भोजदेव की जीवन गाथा भारतीय इतिहास में राजर्षि, प्रियदर्शी अशोक महाप्रतापी तथा महाराज विक्रमादित्य के बाद भारतीय जन समाज में अतिप्रसिद्धि राजा भोजदेव को ही प्राप्त हुई हैं।

महाराजा विक्रमादित्य का यदि न्याय प्रसिद्ध है तो महाराज अशोक का धर्म प्रचार तथा महाराज भोजदेव की साहित्यिक गरिमा।[24]

भोजदेव का दूसरा नाम त्रिभुवननारायण भी मिलता है। इसी नाम का एक और पर्याय त्रिलोकनारायण भी प्रयुक्त हुआ है।[25]

इन्होंने राजधानी उज्जयिनी से हटाकर धारा नगरी को बनाया था,अतः इनको धारेश्वर भी कहा जाता है।[26]

इनके पिता का नाम सिन्धुल अथवा सिन्धुराज पितामह का नाम सीयदेव था।

आचार्य भोजदेव अनेक विद्याओं- काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वास्तुशास्त्र, युद्धकौशल, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि में परमनिष्णात, समराङ्गणसूत्रधार, चतुष्षष्टिकलापारदृश्वा, कुशलप्रशासक, कवि, दानवीर विद्वानों तथा कवियों के आश्रयदाता थे।[27]

ऐतिहासिक कवि कल्हण ने अपने प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'राजतरङ्गिणी' में भोजदेव के समय के विषय में बताया है-

स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कवि बान्धवौ।।[28]

विल्हण इन्होंने भी भोजदेव के समय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

यस्य भ्राताक्षितिपतिरितिक्षत्रतेजोनिधानम्।
भोजक्ष्माभृत्सदृशमहिमा लोहराखण्डलोऽभूत।।[29]

वस्तुतः दोनों ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर भोजदेव का समय लगभग 999-1062 होना चाहिए।

धार्मिक कृत्य-

भोजदेव शैवमतानुयायी थें उदयपुर प्रशस्ति में इनको भर्गभक्त- शिवभक्त कहा जाता है।[30]

स्वयं भोजदेव के ही 1076 और 1078 विक्रमसम्वत् के दोनों दानपात्रों का पूर्वार्ध समान पदावली में निबद्ध है जिनमे भगवान शिवपूजा के अनन्तर दान देने का उल्लेख है।

आफ्रेक्ट महोदय ने अपने ही स्कैटेलागस कैटेलागोरमस्में आचार्य भोजदेव के नाम से भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थों की सूची दी है।[31]

काव्यशास्त्र- 1 सरस्वतीकण्ठाभरण 2 श्रृङ्गारप्रकाश।

व्याकरण- 3 सरस्वतीकण्ठाभरण 4 शब्दानुशासन 5 भर्तृहरिकारिका।

चिकित्सा- 6 आयुर्वेदसर्वस्व 7 राजमृगाङ्क 8 विश्रान्तविद्याविनोद 9 शालिहोत्र (अश्वचिकित्सा)।

ज्योतिष- 10 आदित्यप्रतापसिद्धान्त 11 राजमार्ण्ड 12 राजमृगाङ्क 13 विद्वज्जनवल्लभ प्रश्नज्ञान।

शैवदर्शन- 14 सिद्धान्तसंग्रह 15 तत्वप्रकाश 16 शिवत्तरत्नकलिका।

वास्तुविद्या- 17 समराङ्गणसूत्रधार 18 युक्तिकल्पतरु।

धर्मशास्त्र एवं नीति शास्त्र- 19 चाणक्यनीति 20 चारुचर्या 21 व्यवहारसमुच्चय 22 विविधविद्याचतुरा 23 सिद्धान्तसारपद्धति।

अन्यदर्शन- 24 राजमार्तण्ड (योगसूत्रवृति) 25 राजमार्तण्ड (वेदान्त) 26 द्रव्यानुयोगकर्तणा की टीका।

काव्य, कथा, चम्पू आदि- 27 चम्पूरामायण 28 नाममालिका (कोष) 29 विद्याविनोद (काव्य) 30 सुभाषित प्रधन्ध 31 कूर्मशतकम् 32 अवनिशतकम् 33 पारिजात मञ्जरी 34 श्रृंगार मञ्जरीकथा 35 कोदण्ड 36 अज्ञातनामप्राकृतकाव्य।

वस्तुतः काव्यशास्त्र के विषय में आचार्य भोजदेव के दो ग्रन्थ प्राप्त हुए[32] –

1. सरस्वतीकण्ठाभरण
2. श्रृङ्गारप्रकाश

सरस्वतीकण्ठाभरण में पाँच परिच्छेद हैं-

प्रथम परिच्छेद-

दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।
हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादौ प्रचक्ष्महे।।[33]

दोष एवं गुणों का विवेचन हैं। इसमें इन्होंने पद-वाक्य तथा वाक्यार्थ तीनों के 16-16 दोष तथा शब्द

एवं अर्थ के 24-24 गुणों का उल्लेख किया हैं।

द्वितीय परिच्छेद –

जातिर्गती रीतिवृत्तिच्छायामुद्रोक्तियुक्तयः
भणितिर्गुम्फना शय्या पठितिर्यमकानि च।।
श्लेषानुप्रासचित्राणि वाकोवाक्यं प्रहेलिका।
गूढ़प्रश्नोत्तराध्येयश्रव्यप्रेक्ष्याभिनीतयः।।
चतुर्विंशतिरित्युक्ताः शब्दालङ्कारजातयः।
अथासां लक्षणं सम्यक्सोदाहरणमुच्यते।।[34]

तृतीय परिच्छेद–

अलमर्थमलंकर्तु ये व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादयाः प्राज्ञैस्तेऽर्थालङ्कारसंज्ञया।।
जातिविभावना हेतुरहेतुः सूक्ष्यमुत्तरम्।
विरोधः संभवोऽन्योन्यं परिवृतिर्निदर्शना।।
भेदः समाहितं भ्रान्तिवितर्को मीलितं स्मृतिः।
भावःप्रत्यक्षपूर्वाणि प्रमाणानि च जैमिनेः।।[35]

चतुर्थ परिच्छेद–

शब्देभ्यो यःपदार्थेभ्य उपमादिःप्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालंक्रियाः प्रियाः।।
उपमा रूपकं साम्यं संशयोक्तिरह्नुतिः।
समाध्युक्तिःसमासोक्तिरूत्प्रेक्षाप्रस्तुतस्तुतिः।।
सतुल्ययोगितोल्लेखः ससहोक्तिःसमुच्चः।
साक्षेपोऽर्थान्तरन्यासः सविशेषा परिष्कृतिः।।
दीपकक्रमपर्यायातिशयश्लेषभाविकाः।
संसृष्टिरिति निर्दिष्टास्ताश्चतुर्विंशतिर्बुधैः।।[36]

पञ्चम् परिच्छेद–

इस परिच्छेद में मुख्य रूप से रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा वृत्तिचतुष्टयों का वर्णन किया है।[37]

श्रृंगारप्रकाश- आचार्य भोजदेव अतीब विशाल यह दूसरा ग्रन्थ इसमें कुल 36 प्रकाश हैं।

प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द तथा अर्थ सिद्धान्तों का व्याकरण की दृष्टि से निरूपण किया गया है। नवम्-दशम प्रकाश में दोष-गुण-समीक्षा, एकादश-द्वादश प्रकाश में महाकाव्य और नाटक का विवेचन तथा शेष 24 प्रकाशों में रसों का सोदाहरण सूक्ष्म एवं विशद वर्णन किया गया है।

जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही प्रतीत होता है कि श्रृङ्गार रस को ही प्रधान रस माना गया है।

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयन्तु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः।।
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धः वटयक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्व-वशादुपेतामेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः।।[38]

किन्तु आचार्य भोजदेव का यह शृङ्गार सामान्य शृङ्गार नहीं है, अपितु इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों का समावेश हो जाता है।

अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। रसो वै सः इति श्रृत्वा रस एकःप्रकीर्त्तिः। अतो रसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न।। धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन स चतुर्विधः[39]

वस्तुतः आचार्य श्रीभोजदेव ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के साथ ही साथ विभिन्न विषयों में अपनी उत्कृष्ट रचनाओं के माध्यम से सभी विद्वत् आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। आचार्य भोजदेव के दो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश' विद्वानों के कण्ठहार समतुल्य माने जाते हैं।

सन्दर्भ -

1. सरस्वतीकण्ठाभरण 2/138-139
2. काव्यालङ्कार 1/18-19
3. सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2
4. भामह काव्यालङ्कार 1/6
5. काव्यादर्श 1/10
6. अग्निपुराण 2/5
7. रुद्रट काव्यालङ्कार 7/1
8. वामन काव्यालङ्कार 1/1/1
9. हेमचन्द्रानुशासन पृष्ठ 16
10. काव्यप्रकाश 1/1
11. तदेव, पृष्ठ 24
12. प्रतापरुद्र पृष्ठ 42
13. सरस्वतीकण्ठाभरण पृष्ठ 4
14. सरस्वतीकण्ठाभरण 1/59
15. तदेव, 5/8
16. तदेव, 5/26
17. तदेव, 5/163-164
18. नाट्यशास्त्र, 6/1-6
19. दशरूपक, 4/35
20. काव्यप्रकाश, 4/47
21. सरस्वतीकण्ठाभरण, द्वितीय भाग पृष्ठ, 415
22. काव्यालङ्कार, 12/3

23. तदेव, 12/4
24. भारतीय वास्तुशास्त्र, वास्तुविद्या एवं पुरनिवेश, लखनऊ 1955, पृष्ठ 1
25. विश्वेश्वरनाथ रेल, राजाभोज हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, 9-इलाहाबाद, 1932, पृष्ठ 9
26. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ 1
27. तदेव, पृष्ठ 3
28. राजतरङ्गिणी, 7/259
29. विक्रमाङ्कदेवचरितम्, सर्ग 18, श्लोक 48
30. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ 5
31. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ 50
32. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, अष्टम खण्ड, काव्यशास्त्र, पृष्ठ 201
33. सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/3
34. तदेव, 2/5
35. तदेव, 3/3
36. तदेव, 4/4
37. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, अष्टम खण्ड, काव्यशास्त्र, पृष्ठ 202
38. तदेव, पृष्ठ 582
39. मन्दारमरन्दचम्पू, बिन्दु 7, पृष्ठ 107

Judicial approach on development of Hindi through Sanskrit

· Prof. Rakesh Kr. Singh*

Abstract :

A national language is required to bring together, diverse cultures and ethnicities under a single roof so that a nation can develop easily and speedily with least friction. A close knit and integrated society develops at a faster rate as compared to a disintegrated society. Therefore, more internal conflicts imply slow social transformation and mono-lingualism goes to a great extent in minimizing internal conflicts. Therefore, now time has come to install Hindi as National language with the help of Sanskrit as enshrined under Constitution of India.

Key terms: National Language, constitution, Rajyabhasha, Supreme Court, N.E.P. 2020.

I. Introduction :

The provisions made in the Constitution have not settle the language problem once and for all. There is ample scope for conflicting interpretation. It is neither the fault of the Constitution makers nor even of the administrators that the larger issue still exists. In a country like India, where several dominant languages having their own characteristic culture, it is inevitable that such conflict frequently arises. Broadly speaking, there are four major groups of Indian languages:

1. Indo-Aryan: Sanskrit, Hindi, Marathi, Bengali, Oriya, Assamese, Kashmiri, Nepali, Konkani, Punjabi and Urdu.
2. Dravidian: Telugu, Tamil, Kannada, Malayalam and Tulu.
3. Mongoloid: Manipuri, Tripura, Garo, and Bodo.
4. Tribal Language and Dialects: Gond, Oraon, Santal, Mundari, etc.[1]

However, our Constitution makers had tried to evolve a compromise formula to settle language issue. The conflict on the issue of language has been quite expected among the regional language groups in course of their gradual politicization in the present democratic set-up. Indian judiciary was confronted with highly complex and controversial issue of language policy for the country and it has to balance the claim of

*Professor and Ex. Head & Dean, Faculty of Law, University of Lucknow, Lucknow-226031 (U.P.)

political expediency, people's emotional sensitivity and linguistic activities. Indian Judiciary by making different interpretation at different times though circulated blood in empty vessel of Constitutional provisions but ultimately puts its own stamp to balance the competing claim of Hindi as Official Language of Union and upholding the retention of English as language of administration and courts. Also, opting for national language brings about uniformity in the society. In Indian context use of a single language in executive and judicial functions can help to bring about uniformity and integrity in the country. Explaining the importance of a national language, the President of Constituent Assembly said :

"There is no other item in the whole Constitution which will be required to be implemented from day to day, from hour to hour, I may almost say from minute to minute in practice. Even if we succeed in getting a particular proposition passed by a majority, if it does not meet with the approval of any considerable section of the people in the country whether in the north or in the south, the implementation of the Constitution would become the most difficult problem."[2]

II : Constitutional Provision regarding Directive for Development of Hindi through Sanskrit (Article 351) :

At the time of the framing of Constitution, an argument used for having a long transitory period for change-over from the English to the Hindi language was that it was an underdeveloped language and that it needs to be developed before it could be ready to take the place of the English language. Therefore, Art.351 placed the Central Government under an obligation to take steps to promote the spread and development of Hindi[3].

According to the Language Commission, 'other language' means all other language and not necessarily the language of India specified in the Constitution. Hence, in the process of development and enrichment of the Hindi language, there is no inhibition as to draw from any language including the English language.[4]

Purists desire to draw upon Sanskrit, and Sanskrit alone, for new words necessary to develop Hindi as a language of administration and education, while the liberalists want to use all regional languages and also Hindustani for the purpose. There is no doubt however that Hindi developed on the lines laid down in Art.351 would be very different from its present form. The idea of assimilating terms from regional languages into Hindi is expedient as it would allay apprehension and misgiving of those linguistic groups whose languages do not have a Sanskrit base.

This Article thus defines Hindi, the official language of the Union, and in so doing touches the various aspects of the language problem, such as its form, its styles, its relationship with the seventeen languages specified in VIII Schedule and the need to develop it and to enrich it to make it fit for use as the official language of the Union.

Since the enrichment of the Hindi language is to be achieved by assimilation of

forms and styles of the Hindustani and other languages including Hindi mentioned in VIII Schedule, it has been argued at some length that the Hindi envisaged in the Constitution as the official language of the Union is to be different from the Hindi adopted by Hindi State as their official language, for Hindi cannot be enriched by 'Hindi; Hindi cannot assimilate forms, styles, etc., from Hindi. In other words, the Union Hindi is to be different in form and content from the regional Hindi or Hindi States. The regional Hindi of VIII Schedule has been termed as 'High Hindi' serving the needs of a region, whereas the Hindi or Art.351 has been termed as Hindi serving as a common medium of all peoples of India. It has been further argued that the Union Hindi is meant to serve public men, leaders, ministers, ambassadors, newspapers, etc., in fact, all others when they meet in a conference. This Hindi, it has been sought to make out, will be inclusive and extensive, not exclusive and intensive.

It has to be simple as against the Sanskritised and pedantic Hindi of the Hindi States. Thus a controversy about 'two Hindis' has been sought to be raised in certain quarters. The Union Hindi has been described as RASTRABHASHA (राष्ट्रभाषा) as against the RAJYABHASHA (राज्यभाषा) of the States.

This interpretation is, to say the least, most unsound and Art.351 is being given an import far from the intentions of the Constitution makers. It has only to be remembered that every language has two forms-one used for literary purposes and the other for common parlance. The literary language gives expression to moods, thoughts, the musings and fancies of the best minds, the other form is something to which ever one speaking that language contributes. It is like a city to which every human being bring a stone in the words of Emerson. This is true not only of any foreign language but also of an indigenous language, be it Hindi or any regional language. It should not be forgotten that the development of a language depends solely upon it gifted writers and literary geniuses. Then a language develops by usage. It develops in response to the requirements of a society for communication and intercourse. Hindi and also other regional languages were used in the past for an almost all purposes at village, tahsil and even district levels. These languages were also capable of being used in the higher administration. They, however, fell into disuse. For over a hundred year now English has been the official language both at the Central and in the States. The deficiencies from which Hindi or, for that matter, any other regional language at present suffers, can be removed only by bringing them into actual use for purposes of State and Union administration. The first thing, therefore, that need to be done is to develop Hindi vocabulary. In the adoption of new words we have to give up for good any purist attempt to exclude words, idioms etc., on the ground that they do not belong to the source from which the language is derived. In Hindi we find not only Sanskrit words but also words from languages having their origin in Arabic, Persian, Latin, French, Spanish, Dutch etc. We have to absorb within the genius of the Hindi form,

the style and expressions of all the languages. Once we have built up a large store of rich words, subtle distinctions in meanings and interpretation could be more easily expressed. A language has to be developed and its literature enriched to enable it to become a fit vehicle of expression by all elements of a composite culture. This can best be done by building upon the foundation of existing forms and style of the language and also by fortifying it with all that can easily be adopted from other sister languages.[5]

According to the H.M.Seervai, it may seem strange that Art.351 should indicate that new words should be chosen primarily from Sanskrit and secondarily from other language but a history of this provisions enables us to understand this definition even though it may not justify it. The reference in Art.351 to Sanskrit, and its inclusion in Schedule VIII as one of the language of India, requires a brief explanation.[6]

Art.351 no doubt suggests that a language can be built-up by resorting to Sanskrit lexicons and substituting a Sanskrit word for an English equivalent. But language can not be made to order, and unless the word used 'come home to men's business and bosoms' they will secure no hold on the minds or the hearts of men.[7]

This explains why Art.351 has been incorporated in the Constitution. It is not so much a question of two Hindis as a question of improving and developing the form and style of the present Hindi to enable it to fulfill the role of the Union language.

III : Indian Judiciary and development of Hindi through Sanskrit :

Justifying the promotion of Hindi, Supreme Court held in Dalavai Case that Hindi, was essential to maintain the unity and integrity of the country. In the instant case arising from Madras, the Supreme Court struck down a pension scheme for anti-Hindi agitators formulated by the Government of Tamil Nadu on the grounds that the executive act contravened Art. 351 of the Constitution of India. The court held that the scheme was violative of Art. 351 and consequently, unconstitutional. The observations of Ray, C.J., are worth quoting:

"in our opinion the pension scheme.... contains the vice of disintegration and fomenting fissiparous tendencies. If any State will be engaged in exciting emotion against Hindi or any other language, such provision has to be nipped in the bud because their are anti-national and anti-democratic tendencies."[8]

In order to develop skill in Hindi, the Central Government provided in-service training to its employee under 45 years of age. This objective received a booster in the Supreme Court decision in Union of India Vs. Murasoli Maran Case.[9] The respondent Murasoli was a Member of Parliament. He on his own behalf, and another who was a postal employee, both non-Hindi speaking, challenged the compulsory 'in service training in Hindi' project for the benefit of the Central Government employees. The learned Chief Justice declared as under :

(a) The official language of the Union would be Hindi, although Art343 permitted the

use of English during the first fifteen year ending 25th January, 1965. After the cut-off date the use for English could be permitted by Parliament, by law.

(b) It was clear that continuing duty of the Central Government to promote the spread of Hindi language. The direction issued by the department of government under the Presidential order, 1960 would be effective even after 26th January, 1965.

(c) Art. 344 established the machinery and procedure for the lingual changeover.

(d) The operation of the Official Language Act and Presidential Order were in different field, and had different purposes. The two were not inconsistent with one another.

(e) It would be strange if the steps necessary for the lingual change-over would be given up at the expiry of the first fifteen years.

In this case, the Court also pointed out that training in Hindi was being provided free and cost and during office time and no penalty was attached for failing to complete the training.[10]

After the Morasoli Maran case, it appeared that gradually several High Court had also change their conservative approach towards Hindi and adopted liberal approach towards Hindi. It has been proved in later case decided by Allahabad High Court. In the instant case[11] Justice M.N.Shukla and Gopi Nath clarified the status of Art.348(2) in which Governor's power to notify use of Hindi or any other language as official language of the State. Justice M.N.Shukla obviously stated that one the Governor issued such a notification, an individual acquired a legal right to use the language prescribed by the notification for writing a petition under Art.226. This provision meant that the Governor's power under Art. 348 (2) to introduce any language other than English could not extend to judgment, decrees or order passed by the High Court. But because of the opening word of Art.348 (1), it was competent for the Union Parliament to override this proviso. That has been done by Sec.7 of the Official Language Act, 1963, which enables a High Court to use a language other than English in its judgment etc. This power had been exercise by the U.P. Government. In the result, it was open to a judge of the Allahabad High Court to pass his judgment etc., in Hindi however, he cannot be compelled to do so.[14] Justice O.P. Garg in same High Court, in an instant case observed that the Allahabad High Court Rules, 1952 have been suitably amended with a view to promote the use of Hindi in this court.[13]

In Santosh Kumar Vs. Secy. Ministry of Human Resources and Development,[14] Supreme Court emphasized the importance of Sanskrit in the spread and development of Hindi as envisaged under Art.351.

"indeed our Constitution requires giving fill up to Sanskrit because of what has been stated in Article 351, in which while dealing with the duty of the Union to promote the spread of Hindi, it has been provided that it would draw, whenever necessary or desirable, for its vocabulary, primarily on Sanskrit. Encouragement of Sanskrit is also

necessary because of its being one of the language included in the English Schedule."[15]

Stating the importance of Sanskrit, Justice B.L. Hansaria concluded his judgment by saying that in view of importance of Sanskrit for nurturing our cultural heritage, because of which even the official education policy had highlighted the need of study of Sanskrit, making of Sanskrit alone as an elective subject while not conceding this status to Arabic and or Persian, would not in any way militate against the basic tenet of secularism.

However, two northern High Court decision, has turned the table related to language related issue. Rajasthan High Court in Munnoram Vs. Hariram case,[16] in which a submission was made that the judgment of the lower courts were in Hindi and the documents were also in Hindi and the poor litigants should not be made to suffer by asking them to supply the translation of the same, because of the transfer policy implemented by the government. It may be noted that proviso to the section 47 of the Rajasthan High Court Ordinance provided that where a judge hearing a case is not familiar with the Hindi language, the proceedings may be conducted by him in English.[17]

In this case, Vaidya, J., has held that the State Government which was custodian of the interest, more particularly, of the poor litigants should have to adopt itself to the transfer policy by seeking that the court proceeding were not held up for want of translation and the litigants was not divided cheap and expeditions justice on the ground of language problem alone, by seeking that the relevant document and the judgments of the court below was translated into English. The State of required to thank, decide and do anything pursuant thereto, the common man of the country and his right under Constitution should be the only and foremost consideration. If this was not done, it would create many problems both for the administrative of justice and for the litigants approaching this institution for getting Justice.[18]

In Dr. Amaresh Kumar Vs. Lakshmibai National College of Physical Education, Gwalior,[19] the petitioners has submitted that since Hindi has been declared as national language and Lakshmibai National College of Physical Education, Gwalior was under the Control of Union of India, the student be permitted to write their Examination paper in National language. It was contended that the prospectus of the course was issued before the admission of the student and it had been made very clear in the prospectus that medium of instruction should be English only. The student joined the institution knowing fully well that the medium of instruction was English and at the time of Examination they could not complain about the medium of instruction.

In this case, respondent's counsel Mr. Roman contended that the matter was related to policy of imparting instructions in English and so according to decision of Hindi Hitrakshak Samiti, no writ could be issued against the respondents. Learned counsel also mentioned English Medium Parents Association case in which Supreme Court considered the importance of Article 350–A and held that the facilities for instruction in mother

tongue at primary stage should be endeavoured of every State and by every local authority within the State to provide adequate facilities for instruction in the mother tongue at the primary stages of education to children.

In this case Justice S.S. Jha of Madhya Pradesh High Court strongly came forward for supporting of Hindi and lashout to English by saying that :

"though India won its independence on 15th August, 1947, yet we could not overcome the mental slavery till today. It is well known that very little percentage of Indian population knows English, yet vested interest of majority of people who had advantage of being in higher post on account of knowledge of English, never wanted this Article i.e., Article 342(1) should came into force. They have a feeling of superiority an account of the knowledge of English. It is well-known that child learns the language of his mother and understand the same. On account of imposition of English majority having better knowledge cannot achieve the expected result on account of their failure to express or write their views in English had given an impression that we were still under the clutches of the British Rule with the result those, who have knowledge of English, yet less intelligent had become superior to majority of students who have little or no knowledge of English. With the result the language English as imposed in doing more harm in development of intellect of the child."[20]

Further, the court went on to say that the framer of the Constitution were aware of this fact but few people's vested interest had stalled development of official language and regional languages of India. The citizens of India were still forced to face the trauma of the past period of English dominion over India by the imposition of English upon them. The act of imposition of English had given an impression that we were still under the clutches of the British Rule.

The Court further observed that the pious intention of the framers of the Constitution was to get rid of English, to wash away bitter memories of British Rule over India. But the officials, who have negligible percentage have a feeling that abolition of English cause disappearance of their superficial superiority over others.[21]

S.S.Jha, J., concluded his judgment by saying that the officers could not ignore Constitutional obligation of Union of India and its employees were bound to implement notification under Art.351 and citizens of India be allowed to forget the bitter past of British Rule over India.

It appeared from the above judgment that Court has recognised the status of Hindi as official language and exhorted that Art.351 is obligatory clause for every citizen and Govt. official to promote Hindi.

Recent Judgments :

What harm will learning Hindi do : Madras High Court ask Tamilnadu Govt.[22]

"What harm will learning Hindi do? Many have lost the opportunity of getting

central government jobs without knowing Hindi," the Madras High Court said on 24-01-2022. The first bench of acting Chief Justice Munishwar Nath Bhandari and Justice P D Audikesavalu made the observation while hearing a public interest writ petition seeking implementation of the National Education Policy (NEP) 2020 in Tamil Nadu. Responding to the observation, TN advocate-general R Shunmugasundaram said, "The Tamil Nadu government follows two-language policy and not three-language policy as it would be overburdening students." Moreover, no one is stopped from learning Hindi in the state. "There are institutions like the Hindi Prachar Sabha where one can learn Hindi," he added.

To this, the court said, "Learning is different from teaching". The court then admitted the plea moved by Arjunan Elayaraja of Cuddalore and directed the state to respond within four weeks. 'Learning only mother tongue won't be helpful'

According to the petitioner, learning only a person's mother tongue would not be helpful. The language has to go hand in hand with other Indian languages, particularly Hindi and Sanskrit, he said :

"...the authorities must take concerted effort in implementing NE and also in upholding the constitutional mandates and the directions of the Supreme Court," the petitioner said. One has to shudder over what would be the consequence if every state would take a stand like Tamil Nadu.

Actually, NEP does not impose either Hindi or Sanskrit. It only offers multiple languages and introduces a three-language policy with emphasis on mother tongue, he said. "But considering the constitutional mandate and the judgments of the Supreme Court the state has to make Hindi compulsory and may be, Sanskrit optional," the petitioner claimed.

Step-motherly treatment to 'Sanskrit' by Uttar Pradesh : Allahabad High Court[23]

Recently Allahabad High Court rebukes Uttar Pradesh Government for Step-motherly treatment to 'Sanskrit'. On January 20, 2022 The Allahabad High Court has pulled up the Uttar Pradesh government on the recruitment of Sanskrit teachers in schools, stating that the state government cannot treat Sanskrit, one of the oldest languages of Indian civilization, as a stepmother.

A Single-Judge Bench of Justice Rohit Ranjan Agarwal passed this order on January 7, 2022 while hearing a petition filed by one Badri Nath Tripathi, challenging his removal from the District Institute for Education and Training (DIET, Bansi, Siddharth Nagar, where he was teaching as Guest Lecturer. According to the instant Writ Petition, Tripathi was teaching Sanskrit in DIET, Bansi from 2012. Since there was no post of lecturer of Sanskrit in the institute, the petitioner was appointed on a contractual basis.

The plea said the Director of DIET, on July 14, 2021, wrote to various institutions situated at Mainpuri, Bijnore, Saharanpur, Hardoi, Lakhimpur Khiri, Chandauli, Sonbhadra, Maharajganj, Deoria, Kushinagar, Chittrakoot and Siddhartha Nagar,

regarding appointment of 1230 teachers for various subjects. However, there was no mention of appointment on the post of lecturer for Sanskrit. A further direction was issued that teachers appointed on contractual basis for subjects where regular appointments were being made, be removed. On February 11, 2021, an order was passed by the Deputy Director/Principal of the institute, removing the petitioner from his service.

The Counsel for the petitioner said that when the Sanskrit subject was being taught in the institute, the petitioner ought to have been continued on contractual basis till such time as there was a post created and a regular selection made.

The court said it founds this strange that when the subject of Sanskrit was being taught in the institution, then why a post for Sanskrit Teacher was not being created. Stranger still was the fact that when a person on contractual basis was being made to teach in the institution, then why he was not being allowed to continue on a contractual basis.

Conclusion

From the above discussion now it is clear that by and large Supreme Court and different High Courts has tried to install Hindi not only for official purposes but also for national purposes. It is evident that different High Courts have also played an active role in securing the real place of Hindi through Sanskrit as envisaged in our Constitution. Uttar Pradesh Govt. has already implemented three language formula policy through NEP (National Education Policy 2020). It said that under the NEP to ensure the preservation, growth, and vibrancy of all Indian languages, several initiatives are envisaged. The main intention of three language formula was to educate non-Hindi speaking children in Hindi so as they can create a better environment for the development of Hindi through Sanskrit as national language. Basically a national language is required to bring together, diverse cultures and ethnicities under a single roof so that a nation can develop easily and speedily with least friction. A close knit and integrated society develops at a faster rate as compared to a disintegrated society. Therefore, more internal conflicts imply slow social transformation and mono-lingualism goes to a great extent in minimizing internal conflicts. Therefore, now time has come to install Hindi as National language with the help of Sanskrit as enshrined under Constitution of India.

References :

1. Suniti Kumar Chatterjee, Linguistic Survey of India: Languages and Scripts, Cultural Heritage in India, Vol I, Calcutta: Ramakrishna Mission, 2nd edn, 2001, pp.55-65, as cited in P. Ishwara Bhat, Law & Social Transformation, Lucknow: Eastern Book Co., I edn, 2009, p.272.
2. T.K.Tope, Constitutional Law of India, 1992 edn, Lucknow: EBC Publishing Ltd., p.920.
3. Art.351: Directive for development of the Hindi language :
   It shall be the duty of the Union to promote the spread of the Hindi language, to develop it so that it may serve as a medium of expression for all the elements of the composite culture of

India and to secure its enrichment by assimilating without interfering with its genius, the forms, style and expression used in Hindustani and in the other languages of India specified in the Eighth Schedule, and by drawing, wherever necessary or desirable, for its vocabulary, primarily or Sanskrit and secondarily on other languages.

4. Report of the Official Language Commission, 1955,52.
5. Gopi Nath Srivastava, The Language Controversy and the Minorities, 1970,10-11
6. H.M.Seervai, The Constitution of India, 1983, 2141.
7. Id at 2143.
8. Dalavi Vs. State of Tamil Nadu, AIR 1976 SC 1559.
   {It may be noted here that in 1986 following this ruling it was held that a student could not claim admission based on the fact that her father had taken part in the anti-Hindi agitation.(Sajaritha Vs. Chief Secy. 1986 Mad. W.L.R.,342}.
9. AIR 1977 SC 225; Reversing Murasoli Maran Vs. Union of India, AIR1972 Mad 140.
10. Id at 228.
11. Prabandhak Samiti Vs. Zila Vidyalaya, AIR 1977 All 164.
12. Id at 167.
13. Balraj Mishra Vs. Hon'ble Chief Justice, H.C. Allahabad, 2000 (18) L.C.D. 606.
14 AIR 1995 SC 293.
15. Id at 297.
16. AIR 1996 Raj 1.
17. It was noted that same issue raised earlier in State of Gujarat Vs. Patel Jayantibhai, (1994) 2 Cuj. L.R. 1472.
18. Munnoram Vs. Hariram, AIR 1996 Raj. 4.
19. AIR 1997 MP 43.
20. Dr. Amaresh Kumar Vs. Lakshmibai National College of Physical Education, Gwalior, AIR 1997 MP 48.
21. Id at 49.
22. January, 25, 2022 The Times of India, Sureshkumar/TNN
23. January 20, 2022 Law Beat, Salil Tiwari, https://lawbeat.in/news-updates.

Understanding the concept of Rāshtra (Nation) in the Dharmic Tradition: A Critique of Eurocentric Modernity

· Dr. Prashant Shukla*

Abstract:

In the present-day socio-political scenario, 'Hindu nationalism', as proposed by our Dharmic tradition (i.e., the Oriental tradition) poses the most profound and debatable issue to the governing principles and intellectual maps of a democratic independent India. This issue has two simultaneous impulses: (i) an obligation to the territorial integrity of India and (ii) a political commitment to Hinduism. However, given India's turbulent cultural history, it is unlikely that Hindu nationalism can realize both its aims. What happens to India, therefore, depends on how powerful this Hindu nationalism becomes, and the way in which its implicit contradictions are resolved. According to Hindu nationalists, a proliferation of pro-minority laws has not led to the building of a cohesive nation. Instead, 'fissiparous tendencies' have regularly erupted. Rather than running away from Hinduism, which is the source of India's culture, one should explicitly ground politics in Hinduism, not in laws and institutions: The Hindu Rashtra (nation) is essentially cultural in content, whereas the so-called secular concept pertains to the state and is limited to the territorial and political aspects of the Nation. The mere territorial cum-political concept divorced from its cultural essence can never be expected to impart any sanctity to the country's unity. The emotional binding of the people can be furnished only by culture and once that is snapped then there remains no logical argument against the demand by any part to separate itself from the country. In their conception of Hinduism, Hindu nationalists fluctuate between two meanings of Hinduism: Hinduism as a culture (as the above quotation suggests), and Hinduism as a religion. "Hindu is not the name of a religious faith like the Muslim and the Christian; it denotes the national life here," declares Sheshadri.

Key terms: Rāshtra, Dharmic, Nationalism, Integrity, Hierarchy, Eurocentrism, Modernization.

In the contemporary socio-political scenario, Hindu nationalism as proposed by our Dharmic[1] tradition) poses the most profound and debatable issue to the governing

*Associate Professor, Department of Philosophy, University of Lucknow.

principles and intellectual contours of a democratic independent India. This issue has two simultaneous impulses:

(i) an obligation to the territorial integrity of India and

(ii) a political commitment to Hinduism.

However, given India's turbulent cultural history, it seems quite difficult that Hindu nationalism can achieve both objectives at the same time. Therefore, what becomes of India (as a nation) depends on how strong this notion of Hindu nationalism becomes, and the way in which its embedded paradoxes are sorted out. It seems necessary to mention here that the question of nationalism is not the only problematic issue in India. Apart from the issue of nationalism, two other issues: that of concern for socio-political and economic order have been seriously questioned in recent times. The traditional caste hierarchical order implicit in the Hindu social order have also been overtly questioned by political interests emphasizing the mobilization of lower castes. As V.S.Naipaul remarked,

"People everywhere have an idea of who they are and what they owe themselves. The liberation of spirit that has come to India could not come as a release alone".[2]

Further, he adds,

"India was now a country of a million little mutinies. But there was in India now what didn't exist 200 years before: a central will, a central intellect, a national idea. The Indian Union was greater than the sum of its parts."[3]

Though it is quite possible for one to disagree with Naipaul about whether a 'national idea' existed in India in earlier times or not, he is absolutely correct in pointing out a paradox: both little mutinies and a 'central' or 'national idea' are surfacing at the same time. The other two varieties of nationalism: 'Secular nationalism' and 'Hindu nationalism' are committed to India's territorial integrity (though they seek to do it in different ways). Now, the provoking question here seems to be: which kind of nationalism is to be preferred over the other and why? The answer to this dilemma lies in philosophers' response to this issue:

"A nation is not merely a cultural configuration; it means investing a cultural community with sovereignty, and, at the very least, with political autonomy."[4]

Hinduism, to Hindu nationalists, is the source of India's identity. It alone can provide national cohesiveness. This claim inevitably begs another significant question: Who is a Hindu? V.D. Savarkar, the ideological father of Hindu nationalism, explains:

"A Hindu means a person who regards this land… from the Indus to the Seas as his fatherland as well as his Holy land."[5]

The definition is territorial (demographic region lying between Indus and the Seas), genealogical (fatherland) and religious (holy-pious land). Hindu nationalism, thus,

has two simultaneous impulses:

(i) building a United India, as well as

(ii) Hinduization' of the socio-political order and the nation.

Non-Hindus (Muslims and other groups) are not excluded from the definition of India, but inclusion is conditional: it is based upon the nature of embeddedness, on acceptance of the political and cultural centrality of Hinduism. If this embeddedness is not tolerable to the minorities, Hindu nationalism becomes exclusionary in nature (in principle as well as practice).

In the second half of the 19th century, this 'Hindu revivalism' can be seen as a way to respond to British rule and to resurrect India's cultural pride. This raises another vital question: Who is an Indian? Though appearingly easy to state, the question is difficult to reason, as indeed it is with respect to several other nations in the world. Literature on comparative nationalism suggests that national identities have historically been based on several principles of collective belonging: territory (Spain, Switzerland, and a number of Third World nations), ethnicity (Japan, Italy, Germany, and much of Europe), religion (Ireland, Pakistan, and parts of the Middle East) and/or ideology (successfully in the United States, unsuccessfully in the former Soviet Union and Yugoslavia).

The religious notion is that India is originally the land of authentic Hindus, and it is the only land which the Hindus can call their own. India has the Hindu holy places (Varanasi, Prayag, Tirupati, Rameswaram, Puri, Haridwar, Badrinath, Kedarnath, and now Ayodhya) and the holy rivers (Ganga, Yamuna, and the confluence of the last two in Prayag). Most of India is, and has been, Hindu by religion; anywhere between 65 to 70% in the early 20th century and (arguably) 80% today. It is well-accepted that considerable ethnic diversity has existed within Hindu society, but this should also be accepted that a faith in Hinduism brings the diversity together. India viewed in this fashion is a Hindu nation.3 The three abovementioned identity principles have their political equivalents:

(i) In political discourse, the territorial idea is called 'national unity' or 'territorial integrity';

(ii) the cultural idea is expressed as 'political pluralism';

(iii) the religious idea is known as Hindutva, or 'political Hinduism'.

According to Hindu nationalists, the propagation of pro-minority laws has definitely not led to the building of a cohesive nation; rather it has led to the epidemics of 'fissiparous tendencies'. As such, instead of running away from Hinduism (which is the real source of India's culture), one should openly and clearly ground politics in Hinduism, not in laws and institutions: The Hindu Rashtra (nation) is essentially cultural in content, whereas the so-called secular concept pertains to the state and is limited to the territorial and socio-political aspects of the Nation. The mere territorial-cum-political concept estranged from its cultural essence can never be expected to impart any sort of

inviolability to the country's unity. The emotional binding of the people can be furnished only by culture and once that is snapped then there remains no logical argument against the demand by any part to separate itself from the country.[6] In their conception of Hinduism, Hindu nationalism oscillates between two understandings of

Hinduism:

(i) Hinduism as a culture, and

(ii) Hinduism as a religion.

It seems appropriate to mention H.V.Sheshadri's statement here,

"Hindu is not the name of a religious faith like the Muslim and the Christian; it denotes the national life here".[7]

This kind of mobilization lasted almost three decades, which led to the dissemination of the idea of India as a nation to almost every part of India. By 1930s and 1940s, Gandhi, Nehru, and the Congress party were everywhere. In Punjab, the site of an insurgency until recently, they were viewed as local folk. In today's insurgent Kashmir, a Hindu-Muslim-Sikh coalition openly embraced Gandhi even as the rest of India was burning with communal violence over partition.

Despite this, the emergence of Pakistan seemed to be the greatest failure of the Congress. The Muslim League could not be won over. Nor could the Muslim League win over all Muslims in the subcontinent, in good part because of the interreligious idea of India so painstakingly promoted by the Congress party. By the late 1980s, there was an organizational and ideological emptiness in Indian politics. Organizationally, Congress was clueless. Ideologically, it was not obvious what it stood for. Professing socialism, some of its leaders wholeheartedly embraced the market. As a result, Congress no longer remained a party but an undifferentiated, unanchored medley of individuals sustained by patronage.

In such a scenario, two major exceptions to this institutional confusion appeared/emerged in the form of the Communist Party of India, Marxist (CPM) and the BJP. The class-based mobilization of the CPM has some inherent limitations in India, making it hard for the CPM to extend its popularity beyond isolated pockets. At the national level, the discipline of the BJP emerged as an alternative to the Congress, as it based its standing on the claim that though secularism is a modern ideology, yet it requires some re-interpretation: It is not modern India which has tolerated Judaism in India for nearly 2,000 years, Christianity from before the time it went to Europe, and Zorastrianism for more than 1,200 years; it is traditional India which has shown such tolerance..As India gets modernized, religious violence is increasing. In the earlier centuries, inter-religious riots were rare and localized. Thus, it would not be wrong to assert that religious violence has something to do with the urban-industrial-modernist vision of life and with the political process the vision lets loose. Ashish Nandy draws attention to the contradiction

between the undoubted (though slow) spread of secularization in everyday life (on one hand), and the unmistakable rise of fundamentalism (on the other). But surely these phenomena are only apparently contradictory, for in truth it is the marginalization of faith, which is what secularism is, that permits the perversion of religion. There are no fundamentalists or revivalists in traditional society.

T. N. Madan gives a very powerful argument against secularism that has emerged in India in recent years. The castle of India's secularism is getting demolished, not because it has not gone far enough, but because it became a victim of its official success. This anti-secularist argument proceeds at two levels:

(i) a larger theoretical level and

(ii) India-specific level.

The theoretical attack on secularism is embedded in the generic critique of modernity. European modernity is viewed as facing serious political difficulties all over the world, leading to religious (and ethnic) revivals. The basic flaw of modernity, according to this view, is that (in its over-eagerness for science, progress and reason) it teases the believer for his morality, but it provides no alternative notion. Politics founded on such a modernist, secular vision suffers from irremediable defects. No means are considered detestable enough so long as they facilitate the realization of political ends. Holding nothing sacred, lacking an alternative source of ethics, and having no internal restraints on political behavior, modernity and secularism denude politics of morality. Because human beings cannot live without notions of right and wrong, the secular and modernist project creates increasing popular scepticism.

Moreover, because it also generates condescension toward religion, secularism puts the believer on the defensive, setting off a religious reaction. Pointing to the origins of secularism, the anti-secularists also argue that it is a Western concept with foundations in the Enlightenment and Reformation. The Enlightenment heralded the supremacy of reason over belief, and, by making the individual responsible for his salvation without the intermediation of the Church, the rise of Protestantism made the separation of the state and Church possible.

Secularism became embedded in Western culture. There is no similar civilizational niche for secularism in India. Religion was, and remains today, the ultimate source of morality and meaning for most Indians. Communal riots never took place in traditional India, for traditional religiosity allowed for principles of religious tolerance and coexistence. Modernity, however, has led to two results in the realm of religion and politics. Because of the link between secularism and amoral politics, communal riots in India have increased with the advent of modernity. And because secularism places the believer on the defensive, fundamentalism and secularism have become two sides of the same coin.

As such, it would not be wrong to say that Eurocentric modernization and secularization does not make much sense in a specific context like that of India. Rather, it makes more sense to go by the age-old and time-tested idea of Rāshtra (Nation) as proposed by our Dharmic tradition. It can be rightfully suggested that a rigorous, strict and anti-western version of nationalism seems to make more sense in the Indian sub-continent. That is why, I would attempt to wind-up this discussion with the famous remark of Pandit Deen Dayal Upadhyaya:

"They must assimilate, not maintain their distinctiveness. Through Ekya (assimilation), they will prove their loyalty to the nation".[8]

References:

1. The term Dharmic is used here precisely in the sense in which western commentators have referred to Indian Philosophy and culture as a 'Religio-Philosophical Oriental culture'. For further details, kindly refer to Stace. W.T., A Critical History of Greek Philosophy, Surjeet Publications, 1971, p.11
2. https://www.indiatoday.in/magazine/society-and-the-arts/books/story/19900815-exclusive-extracts-from-vs-naipauls-third-travel-book-india-a-million-mutinies-now-812876-1990-08-14 (as cite on 22:10 IST, 12-04-2023)
3. Ibid
4. See Isaiah Berlin, 'The Bent Twig: On the Rise of Nationalism,' The Crooked Timber of Humanity (New York: Vintage Books, 1992). Also see Stuart Hampshire's review of Berlin's views in 'Nationalism', in Edna and Avishai Margalit, eds., Isaiah Berlin: A Celebration (Chicago, 111.: University of Chicago Press, 1991).
5. Savarkar, V. D. Hindutva (Bombay: Veer Savarkar Prakashan, 1989), p.110-13.
6. Golwalkar, M. S., We or Our Nationhood Defined (Nagpur: Bharat Publications, 1939).
7. Sheshadri, H.V., 'Hindu Rashtra: What and Why', Hindu Vishva (Prayag), p.25.
8. See Savarkar, Hindutva; Deen Dayal Upadhyay, Akhand Bharat Aur Muslim Samasya (Undivided India and the Muslim Problem), (Noida: Jagriti Prakashan, 1992).

The Concept of Truth an Indian Perspective

· Lokesh Kumar*

Abstract :

The Indian traditional knowledge is full of novelty in explaining the untold mysteries of Truth. The great thinkers have thought over the centuries for explaining this through their self-introspection. This has shown path of new findings through various innovative ideas and concepts which dominated the society and became a civilized one. Truth has a great importance in the Indian tradition, as a characteristic of existence, the support of creation, the attribute of gods, moral value, philosophical concept, spiritual practice, instruction, and the identification of *Dharma* and *Ṛta*.

This paper will highlight some abstract ideas on the basis of the above points in the context of Indian scriptures.

Key terms: Satya, Ṛta, Truth, Truthfulness, Dharma, Daṇḍa, Karma, Spirituality.

0. Truth is divinity in itself. Brahman is Truth personified. Devotees worship Lord Viṣṇu as Satyanārāyaṇa, the Lord of Truth. Śiva is pure, free from impurities of egoism, attachments, and delusion. Hence, He is a Truth Being and eternally pure (Sadā Śiva). Brahma's creative power arises from the purity of his consciousness, chastity and austerity. Hence, the *Praśnopaniṣad* declares that Truth is established in Brahma, besides austerity and chastity. As explained :

"तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥"[1]

According to *Bhagavadgītā*[2], existence is sat, the truth. Non-existence is asat, the untruth. For the mind what is visible is sat and what is invisible, *asat.* Supreme Brahman is neither sat nor *asat.* He is one, without qualities, dualities, and attributes. However, at the beginning of creation, he manifests as *Iśvara,* the lord of the universe, in the purity of Nature. *Iśvara* is sat, the truth being, who is made up of the purest sattva.

Hence, in its essence truth is purity. In Nature the quality of *sattva* manifests as purity and truth. It is by practicing truth that we cultivate *sattva,* overcome impurities of

*Research Scholar, Shree Somnath Sanskrit University, Veraval, Gujarat

rajas and tamas and become pure like *Iśvara.* When we are pure with the predominance of sattva, we discern truth and reflect truth. When we are truthful and firmly established in truth, we become one with Brahman, the true Being. We become free (*mukta*) from the cycle of births and deaths and ascend to the world of Truth.

From the purity of sattva arises truthfulness, clarity in thinking, discernment (*buddhi*), mental brilliance (*medhā*), detachment (*vairāgya*), knowledge of the Self (*ātma-j̃ñāna*) and freedom from delusion and bondage. Beings are subject to delusion and ignorance when their purity (*sattva*) is mixed up with other two *guṇas,* namely *rajas* and *tamas.* Hence, the scriptures emphasize the need to cultivate purity through austerities, restraints, observances, and other spiritual practices.

Thus, truth and truthfulness form the core values of Hindu religious and spiritual practice. The Vedas[3] declare that Truth is the support of the mortal world. *Ṛta* (Order), *Dharma* (Law) and *Satyam* (Truth) are the triple guardians of creation who keep the worlds free from chaos. They also personify the triple deities, Brahmā, Viṣṇu and Śiva respectively. By establishing discipline in the mind and body, practicing obligatory duties in daily life, and abiding in truth in personal conduct, one overcomes death and achieves liberation.

1.0 The meaning of Truth

In the Indian tradition, truth has a wider meaning. Literally, the word satya means truth, real, genuine, honest, upright, the world of Brahman or the highest world (*Satyaloka*), an yuga (*Satya-yuga*), and water (life support). It also represents any divinity or person representing truth, character and purity. Therefore, in literature it is used to denote holy and pious people, especially women like Sitā, Draupadī, Satyavati, Satyabhāmā, Durgā, Sati, etc.

In the whole existence, Truth is the protector and guardian of life. In the *Bṛihadāraṇyakopaniṣad*[4] sage Yājñavalkya explains the meaning of the word Satyam. He states that in the beginning of creation when Prajapati created the gods, they worshipped Brahman, the true Being, as Satyam. That true being, *Satyam,* has three syllables, "*sa*", "*ti*" and "*yam*". "*Sa*" and "*yam*" are true. The middle syllable, "*ti*", is untrue. The untrue is enclosed on both sides by Truth. Hence, Truth predominates in the mortal world and presides over it as its lord. The explanation is symbolic, rather than phonetic or etymological. "*Sa*" is *sat*, or Puruṣa, the manifested Brahman. "*Yam*" is Prakriti, or that which has movement or force, or that which goes forth (*ya*). Both are eternal truths and indestructible. What lies in between them is "*ti*", their opposite, the untrue, which is a reference to death and mortality or beingness. Hence it is said :

"आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवांस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्र्यक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे

अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वासमनृतं हिनस्ति॥"

Etymologically, we do not know the true origins of the word, *satyam*. However, it seems that it was derived from the word "*sat*," which means being, existence, true, high, exalted, good, real, virtuous, right, excellent, etc. As stated before, *sat* is the name of Brahman in his manifested state. The word *sattva*, which has a close affinity with satyam, was also probably derived from *sat*. *Sattva* is a quality of Nature, which is commonly associated with gods, pure beings, virtuous people and immortal souls. It means existence, truth, purity, nature, and essence. In Nature, truth is reflected in *sattva* only. If *sattva* is suppressed, a person falls into sinful ways as he loses discretion and resorts to falsehood, deception and immorality.

1.1 Truthfulness in Spiritual practice

In *Chāndogyopaniṣad*[5] the story of Satyakāma Jābāl illustrates the importance of truth in learning, in life and in spiritual practice. Students were supposed to practice not only celibacy but also truthfulness. Speaking falsehood before a revered teacher was a mortal sin with far reaching negative consequences for oneself and the family. Initiation meant initiation into the study and practice of truth, and the truth was the knowledge of the Vedas and related subjects. Initiation into truth was a precondition in those days to acquire knowledge, officiate rituals, or practice spirituality.

Even today, in almost all teacher traditions, as part of their initiation, spiritual aspirants have to undertake the vow of truthfulness, apart from other vows. The tradition seems to be very ancient as is evident from the *Bṛihadāraṇyakopaniṣad*[6], which states, "The one who takes initiation (*dīkṣā*) into spiritual life has to take the vow of speaking truth. Hence, by truth only initiation is supported."

The Upaniṣads affirm this truth repeatedly, as can be seen in the subsequent discussion. For example, *Muṇḍakopaniṣad*[7] states that the Self is attained by truth, austerity, right knowledge, and continuous practice of celibacy. *Chāndogyopaniṣad*[8] considers it one of the highest virtues, apart from austerity, charity, straightforwardness and non-injury. As stated in the *Bṛhadāraṇyakopaniṣad*[9], from asat (falsehood) to sat (truth), from darkness (*tamas*) to light (*jyotir*), and from death (*mṛtyu*) to immortality (*amṛtatvaṁ*), this is the forward progression of living beings upon earth, and what humans should aspire to achieve in their lives.

Truthfulness is one of the restraints (*yamas*) in all religious and spiritual traditions of Indian origin. It is one of the five *yamas*[10] mentioned in the Yoga tradition. The practice of truthfulness consists of speaking truth, discerning truth and not speaking falsehood. According to Maharṣi Vyāsa[11], one should ascertain truth through perception, inference, and verbal testimony, and having ascertained it one should speak truth only for the benefit

of all creatures.

Patañjali defined Satya with its fruit as :

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'[12]

It means "by the establishment of truthfulness, the Yogi gets the power of attaining the fruits of works without doing work, for him and other".

Swami Vivekānanda explains same *Sūtra* as :

"When the power of truth is established with you, then even in a dream you never tell an untruth, in thought, word, or deed; whatever you say will be the truth. You may say a man 'Be blessed' and that man will be blessed. If a man is diseased, you say to him 'Be thou cured,' he will be cured immediately".

The law books suggest that kindness and truthfulness should go together. One may speak harmless and pleasant truths that are kind and agreeable to others, but one should not speak harsh and hurtful truths that are unkind and disagreeable. At the same time, one should never speak falsehood, even if it is the most pleasant and agreeable[13].

The practice of truthfulness leads to the predominance of sattva, whereby the mind becomes stable and pure and intelligence becomes sharp and pointed, leading to mental stability, insight into the nature of things, equanimity, discernment, and self-absorption. When the consciousness becomes pure and transparent, it reflects the intelligence of the Self form within and the light of the objects from without. Freed from darkness and filled with the purity and radiance of truth, it becomes the true abode of gods, virtue and wisdom. When gods are active inside, truth prevails and light shines and spreads in all directions.

1.2 Truth in Indian scriptures

Truthfulness is one of the highest and most important spiritual practice in Indian tradition. It is one of the highest austerities, which is important for purification of mind and body and cleansing of past *karma.* It is through the path of truth and purity that the person descends into the highest world of Brahman, which is essentially the world of truth. Those who follow the truth protect the truth. Eventually, they are also saved from death and attain the highest goal.

1.2.1 The Vedas

In the Vedas various descriptions are there to explain the fundamentals of truth. The Vedic scriptures reflect the importance of truth in human life. The Vedas themselves embody truth. Hence, they are considered inviolable and indisputable and as instruments of verbal testimony reliable to ascertain metaphysical truths. The Ṛgveda contains many references to truth. In one of the hymns it affirms that truth is the base that supports the earth – **"सत्येनोत्तभिता भूमिः ।"**[14]

Discerning truth from falsehood is important, because it keeps the world abide by truth. The practice of truth is essentially the practice of dharma because dharma in its

essence is truth and vice versa. The Creation Hymn reveals that *Dharma* and Truth were also the first eternal realities to manifest during creation. It's stated as :

"ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।"[15]

The Vedas also declare that the Vedic sages (ṛṣis) practiced truth as an austerity. They were listeners of truth and seers of truth. By opening their minds to the eternal truths of the highest heaven, they brought the knowledge down to the earth for the benefit of the world. The source of Truth is Brahman, and the world of Brahman is located in the Sun. Hence in the mortal world, truth becomes an extension of the Sun, just as the light that radiates from him.

1.2.2 The Upaniṣads

As the end part of the Vedas, the Upaniṣads contain the ritual, spiritual and philosophical truths about liberation, and how to practice it, sustain it and attain it. Since they contain the essence of Truth, which is synonymous with Brahman, the Vedic seers considered teaching the knowledge of Upaniṣads an instruction in truth.

The Upaniṣads contain the secret knowledge of Truth because they reveal the knowledge of Brahman and Ātman, who are eternal truths and lords of their respective spheres. Immortality is achieved by knowing them and becoming one with them. For example, the *Kauśītakī Upaniṣad*[16] declares that whoever meditates upon Brahman or the Self becomes truth itself. By knowing the Self one gains truth. The same is affirmed in the *Taittirīyopaniṣad*[17] also, which states that he who knows Brahman as truth becomes one with him.

In the *Bṛhadāraṇyakopaniṣad*[18] one is advised to worship the Self as truth only. The Upaniṣad[19] (1.4.14) also equates truth to *dharma* by stating that there is no distinction between the two. "Dharma is but truth only. Therefore, when a person speaks truth, he speaks *dharma*." In the *Īśopaniṣad*[20] also, the seeker, who is about to depart from this world, invokes Pūṣan by saying as a lover of truth he should be allowed to see the face of truth, which is concealed by a golden vessel.

The *Muṇḍakopaniṣad*[21] emphasizes the importance of truth in spiritual practice and liberation by stating that the Self is attained by truth, austerity, right knowledge, and continuous practice of celibacy. Truth is imperative for right knowledge, self-purification, and liberation. The next verse[22], which is stated below, emphatically declares that truth alone triumphs (*Satyameva jayate*), and only by truth one can go by the path of gods to the world of immortality, the supreme treasure of truth. It is said as :

'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानाः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।'

"Truth alone wins, but not untruth. By truth is laid out the path of the immortal gods, by which the sages, who are without any *desires,* ascend to where that supreme

treasure of Truth is."

1.2.3 The Dharmaśāstras

The Dharmśāstras are law books or books of rules regarding duty and virtuous conduct. In the Vedic world they regulated the conduct of people in society according to their status, caste and profession. They recognize speaking truth as one of the austerities and part of the practice of *dharma*. According to *Manusmṛti*[23], in the first epoch (Kṛta Yuga) both *dharma* and truth walked on four legs, but in the succeeding three ages they both lost one leg each for each of them. Because of that the lifespan of human beings also became considerably reduced and so also their duties. With the progressive decline of dharma and truth, society also becomes increasingly disorderly.

Maharṣi Manu states that truth is a purifier. The body is cleansed by water, but the internal organ (*antaḥkaraṇa*), or consciousness, is purified by truth only[24]. He prescribes the practice of truthfulness as a penance for those who violate the code of conduct, or break the established order and the practice of *dharma*. His approach to truth is practical and considerate. Since truth can hurt others if spoken indiscriminately, he suggests that truth should be pleasant but not disagreeable or hurtful, nor should one engage in agreeable untruths, however pleasant they may be[25].

While Manu stated that a teacher should take delight in truthfulness and respect the sacred laws, another law giver, Gautama, stipulated that a student should never speak falsehood about his teacher. Such a person destroys himself and his family for seven generations. The law books do not condone anyone who violates truth. According to *Manusmṛti,* a Brāhmaṇa should never lie after performing a sacrifice. He who speaks untruths to virtuous men is the most sinful person. A student of Veda should also abide by truth. He should utter only those words that are purified by truth. The practice of truthfulness applies to kings also. A king should be just in his punishment and abide by truth while dispensing justice. No one who enters his court should speak untruth before him. One must either speak truth or not come into the presence of a king at all. The king is a ruler who holds *Daṇḍa* in his hand for good governance. Hence, he is called as God himself as stated by Manu in the seventh chapter[26]. He protects truth and rules the kingdom not by his own will but by the principles of truth.

Conclusion

From the above discussion, we may conclude that the concept of truth is *Rta, Satya, Dharma, Daṇḍa* and *Karma* as described in the textual tradition. There are connotations of the word truth from the Vedic period. We are living in a chaotic world at present which is full of falsity. In a such a world it is therefore very difficult to discern truth from falsehood. However, as a starting point, at least one should try to be truthful to oneself and keep the mind clear about the happenings. One need not have to always speak truth but one should know what is not true or what is false. As the law books affirm, one

may withhold truth if it is going to hurt others, but it is important not to withhold truth form oneself or worship falsehood. Knowing truth, in this age, is far more important. At least, you will not be deceived, misled, or victimized by unscrupulous people. Therefore one should try to speak, practice and obey the principles of truth in order to live a meaningful life.

References :

1. Praśnopaniṣad, I.15
2. Bhagavadgītā, II.16
3. Ṛgveda, X.viii.1
4. Bṛhadāraṇyakopaniṣad, V.v.1
5. Chāndogyopaniṣad, IV.4 - IV.8
6. Bṛhadāraṇyakopaniṣad, III.ix.24
7. Muṇḍakopaniṣad, III.i.5
8. Chāndogyopaniṣad, III.xvii.4
9. Bṛhadāraṇyakopaniṣad, I.iii.28
10. Pātañjala Yogadarśanam, II.30
11. Ibid, Vyāsa Bhāṣya II.30
12. Ibid, II.36
13. Manusmṛti, IV.138
14. Ṛgveda X.lxxxv.1
15. Ibid, X.cxc.1
16. Kauśītakī Upaniṣad, IV.5
17. Taittirīyopaniṣad, II.i.1
18. Bṛhadāraṇyakopaniṣad, IV.i.4
19. Ibid, I.iv.14
20. Īśopaniṣad, 15
21. Muṇḍakopaniṣad, III.i.5
22. Ibid, III.i.6
23. Manusmṛti, I.81
24. Ibid, V.109
25. Ibid, IV.138
26. Ibid, VII.17

संस्कृतवाङ्मयी
ISSN : 2231-5799

यूजीसी के दिशा-निर्देशों के अनुसार संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका ISSN 2231-5799 एक विद्वत्तापूर्ण अकादमिक PEER REVIWED शोधपत्रिका है। यह पत्रिका संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के शैक्षिक वातावरण को प्रतिबिम्बित करती है।

शोधलेख के लिए दिशानिर्देश

१. लेखों का विषयः

संस्कृतवाङ्मयी पत्रिका संस्कृत साहित्य, पालि-प्राकृत साहित्य, भाषा विज्ञान, भारतीय दर्शन, तुलनात्मक दर्शन, वेद-वेदांग एवं प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक साहित्य के क्षेत्र में नवीन मौलिक शोध आलेख प्रकाशनार्थ आमंत्रित करती है। आयुर्वेद, गणित, स्वदेशी चिकित्सा पद्धतियों, प्राचीन भारतीय ज्ञान प्रणालियों, टीकाओं, प्राचीन भारतीय कलाओं और वास्तुकलाओं का विश्व कला और वास्तुकला के रूपों के साथ संदर्भ सहित तुलना, पुस्तक-समीक्षा, संस्कृत और प्राच्यविद्या में रचनात्मक लेखन, अप्रकाशित/दुर्लभ पांडुलिपियों की समालोचनात्मक अध्ययन आदि उपर्युक्त सभी क्षेत्रों के अनुसन्धानात्मक शोधपत्रों को प्रकाशित किया जाता है।

२. लेख की भाषाएं और लिपियांः

ए4 आकार के पेपर में लेख संस्कृत या हिंदी या अंग्रेजी में होना चाहिए जिसमें न्यूनतम 2000 से अधिकतम 3000 शब्द हों।

३. विशेषक चिह्न diacritical marks :

अंग्रेजी में लिखे गए पेपर, संस्कृत, अर्धमागधी या प्राकृत या अपभ्रंश या अरबी या फारसी आदि के शब्द रोमन लिपि में प्रस्तुत किए जाने पर सामान्य पाठ के साथ उचित विशेषक चिह्नों (diacritical marks) के साथ होना चाहिए। साथ ही रोमन लिपि में लिखे गए सामान्य संस्कृत शब्द विशेषक चिह्न (diacritical marks) के साथ सामान्य फॉन्ट (बिना इटैलिक) में होने चाहिए।

४. ग्रंथों का इटैलिक रूपः

अंग्रेजी को छोड़कर अन्य भाषाओं में ग्रंथों, रचनाओं, पत्रिकाओं और पूर्ण वाक्य का नाम इटैलिक फ़ॉन्ट में होना चाहिए।

५. शोधसार/बीजशब्द/सन्दर्भ/एंडनोट्सः

शोधपत्र के प्रारंभ में शोधसार(Abstract) तथा बीजशब्द(Key terms) होना चाहिए। नोट्स और संदर्भ लेखों के अंत में अंकों के साथ एंडनोट्स(size 11) के रूप में होने चाहिए।

६. अप्रकाशित शोधपत्रः

संस्कृतवाङ्मयी में प्रकाशनार्थ प्राप्त शोधपत्र तीन स्तरों पर समीक्षक-समिति द्वारा मूल्याङ्कित होने पर ही प्रकाशित किया जाएगा। केवल ऐसे शोधपत्रों पर विचार किया जाएगा जो अन्यत्र प्रकाशित नहीं हुए हैं। शोधपत्र में अत्यधिक अशुद्धियां होने पर शोधपत्र लेखक को प्रत्यावर्तित कर दिया जाएगा।

७. फ़ॉन्टः

देवनागरी लेख एमएस एरियल यूनिकोड या संस्कृत 2003 या किसी भी यूनिकोड फ़ॉन्ट, आकार 14 में टाइप किया जाना चाहिए। अंग्रेजी लेख टाइम्स न्यू रोमन, आकार 12 पीडीएफ के साथ एमएस वर्ड में होना चाहिए। एंडनोट्स size 11 के रूप में होने चाहिए।

८. कैसे भेजेंः

लेखक A4 आकार के पृष्ठ पर टंकित मूल पाण्डुलिपि (एमएस वर्ड) को एक सॉफ्ट पीडीएफ प्रति के साथ ई-मेल **lusanskrit@gmail.com** के माध्यम से विभागाध्यक्ष/संपादक को प्रेषित करें।

९. लेखक संकेत-

लेख के अंत में लेखक का नाम और पूरा पता, फोन नंबर और ई-मेल आईडी होना चाहिए। मुद्रित पत्रिका की एक प्रति छपने के बाद लेखक को भेजी जाएगी।

E-mail : lusanskrit@gmail.com, Website : www.sanskritvanmayi.in